श्रीकृष्ण-सन्देश

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर देश-विदेशके पर्यटकों द्वारा श्रद्धांजलि-समर्पण

भारत स्काउट्स एण्ड गाइड्स, आसनसोल (प० बंगाल) की अध्यापिकाओं तथा छात्राओंका दल श्रद्धांजलि-समर्पणके पश्चात्

पश्चिम जर्मनीके पर्यटकोंका दल श्रद्धांजलि-समर्पणकी प्रतीक्षामें

श्रीकृष्ण-सन्देश

[धर्म, अध्यात्म एवं संस्कृति-प्रधान मासिक पत्र]

प्रवर्तक

ब्रह्मलीन श्रीजुगलकिशोर बिरला

*

परामर्श–मण्डल

स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वती

श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार 'कल्याण'-सम्पादक

डा० भुवनेश्वरनाथमिश्र 'माधव'

श्रीजनार्दन भट्ट

श्रीहितशरण शर्मा

*

प्रबन्ध-सम्पादक

श्रीदेवधर शर्मा

सम्पादक

श्रीव्यथितहृदय

★

प्रकाशक

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

*

वार्षिक शुल्क

सात रुपये

आजीवन शुल्क

एकसौ इक्यावन रुपये

वर्ष : ४] मार्च १९६९ [अङ्क : ८

विषय-सूची

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान

पावन हृदयके पावन स्वर

भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानको देखकर परम हर्षोल्लाससे मन गद्गद हुआ। भगवान्‌की महानताका परिचय इस विशाल स्थानसे प्रतीत होता है कि किन भक्तोंके हृदय में प्रेरणा देकर भगवान्‌ने अपनी महिमा प्रगट की ! मैं तो अपनी श्रद्धाके फूल ही दे सकती हूँ।

पद्मश्री वीरवती 'कलाकार'।

मेरी यह स्थान देखनेकी हार्दिक इच्छा थी। जैसा मैंने मनमें इसका रूप सजा रक्खा था, वैसा ही मुझे यहाँ देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

आनन्दकुमार कर्वा
कर्वा हाउस
पोस्ट सरदार शहर (राजस्थान)।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके दर्शन प्राप्तकर असीम आनन्द और सन्तोषका अनुभव हुआ। स्थान बहुत ही सुन्दर, भव्य तथा रमणीक है। विशेषकर भागवत भवन के, जो अभी निर्माणकी अवस्थामें ही है, मोडेलको देखकर मनमें बड़ी प्रसन्नता होती है कि देशमें इस प्रकारका भवन भी निर्मित होरहा है।

डी० एस० तिवारी
असि० चीफ इंजीनियर
पोस्ट्स एण्ड टैलीग्राफ्स
नई दिल्ली।

आज भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानके दर्शन कर अपार हर्ष हुआ। जिस आस्था और निष्ठासे इस स्थानकी रक्षा और पुनर्निर्माणका कार्य हुआ है, वह वास्तवमें प्रशंसनीय है।

हरिशंकर
उपनिदेशक शिक्षा, आगरा मण्डल।

श्रीकृष्ण जन्मभूमिका दर्शन करके अपार हर्ष हुआ। इस स्थानको देखनेसे अपनी संस्कृतिका अनुभव प्रत्यक्ष रूपसे होने लगता है। भगवान्‌की कृपासे यह स्थान देशमें अद्वितीय होगा, ऐसा प्रतीत होता है। इसमें सहयोग करनेवाले सच्चे अर्थोंमें भाग्यवान हैं।

डा० श्रीनाथ मिश्र
'मानस रत्न' रामायणी
३।१८ शिवाला, वाराणसी।

प्रपत्र : चार
(नियम ८ के अन्तर्गत)

१. प्रकाशन-स्थल	:	श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवासंघ कटरा केशवदेव, मथुरा
२. प्रकाशन-आवृति	:	मासिक
३. मुद्रकका नाम	:	नेमीचन्द जैन
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	मथुरा प्रिंटिंग प्रेस, मथुरा
४. प्रकाशकका नाम	:	देवधर शर्मा
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवासघ, कटरा केशवदेव, मथुरा
५. सम्पादकका नाम	:	श्रीव्यथितहृदय
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवासंघ, कटरा केशवदेव, मथुरा
६. स्वत्वाधिकार	:	श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवासंघ, कटरा केशवदेव, मथुरा

मैं, देवधर शर्मा, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार सही हैं।

मार्च १९६९

देवधर शर्मा
प्रकाशक

श्रीकृष्ण-सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

वर्ष ४ | मथुरा, मार्च १९६९ | अङ्क ८

होरी खेलत हैं गिरधारी

★

होरी खेलत हैं गिरधारी।
मुरली चंग बजत डफ न्यारो संग जुवती ब्रजनारी॥
चंदन केसर छिरकत मोहन अपने हाथ बिहारी।
भरि भरि मूठ गुलाल लाल चहुँ देत सवन पै डारी॥
छैल छबीलै नवल कान्ह सँग स्यामा प्राण पियारी।
गावत चारु धमार राग तहँ दै दै कल करतारी॥
फाग जु खेलत रसिक साँवरो बाढ्यौ रस ब्रज भारी।
मीरा कूँ प्रभु गिरधर मिलिया मोहन लाल बिहारी॥

मीरा

——○——

गीता मानव जीवनके रहस्योंकी उद्बोधिका है। जीवनके संघर्ष, द्वन्द और ऊहापोह जिस प्रकार गीता की ज्ञान-गंगामें शान्त होते हैं, उस प्रकार अन्यत्र और कहीं नहीं। गीताकी ज्ञान-गंगा! लोक-कल्याणके लिए कर्म यज्ञ है। जीवन शास्त्रके आचार्योंने स्वानुभूत तथ्योंसे भी इसकी पुष्टि की है।

गीता-धर्म

डॉ० श्री हजारीलाल माहेश्वरी

[गीता-धर्मका पूर्वांश फरवरीके अंकमें प्रकाशित हो चुका है। सं०]

श्रीकृष्ण धर्मके शास्त्रीय प्रसंगको भी अछूता नहीं छोड़ते। वे मनु द्वारा प्रतिपादित 'त्रयीधर्म' की चर्चा करते हैं और संक्षेपसे बताते हैं कि वैदिक विधि-निषेधके अनुसार विभिन्न मनोरथोंकी सिद्धिके लिये यज्ञ-यागादिका अनुष्ठान किया जा सकता है और उनसे स्वर्गादिकी कामनाको तृप्त किया जा सकता है। यहाँ उनका संकेत उस समस्त विधानमय कर्मकाण्ड की ओर है, जिसकी प्राविधिक मीमांसा वेदशास्त्रमें की गयी है। विभिन्न कामनाओंकी सिद्धिके लिये विशिष्ट विशिष्ट यज्ञोंका अनुष्ठान अपने आपमें एक जटिल विषय है। वह सूक्ष्म विज्ञान पर आधारित हो सकता है। उसमें प्रकृतिकी गुप्त शक्तियोंका मंत्रादिके द्वारा संचार एवं उनके प्रयोगादिका विशिष्ट विज्ञान सन्निहित हो सकता है। अधिकारी-भेद तथा विधि-निषेधादिकी संहिता उसके साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध हो सकती है। नित्य नैमित्तिक

कर्मका उसमें ऐसा विधान भी है, जिसके नाते वह आर्य जातिके लिये धर्मशास्त्र बन गया। गीतामें उसकी चर्चा अत्यन्त संक्षिप्त रूपसे की गयी है और यह कह दिया गया है कि इस 'त्रयी धर्मसे' केवल कामनाओंकी पूर्ति हो सकती है। किन्तु गीता सावधान करती है कि मनोरथोंकी सिद्धि मात्र मानव-जीवनका लक्ष्य नहीं है। स्वर्गादिकी प्राप्ति और उसके सुख-भोग सीमित हैं, संकुचित हैं। बुद्धिमान व्यक्ति इनके प्रलोभनोंमें नहीं पड़ता। वस्तुतः मनुष्यकी अभीप्सा उससे पूर्ण नहीं होती। अतः वेदवादी लोगोंकी आकर्षक और मोहक बातोंमें साधक नहीं पड़ता। स्वर्गादि भोगोंकी कामना अव्यवसायि जन करते हैं। वेद-विद्याका यह अङ्ग त्रिगुणात्मक है। परम श्रेयके साधकको इन गुणोंका अतिक्रमण करना है। (गीता २।४२–४६)

स्पष्ट है कि गीताका धर्मादेश सकाम अनुष्ठानोंके प्रति उपेक्षाभाव जगानेके लिये एवं स्वभावसे प्रेरित 'स्वकर्म' तथा 'स्वधर्म' के आचरणके लिये है। किन्तु शास्त्रोक्त सकाम कर्मोंके प्रति भी गीतामें तिरस्कार भाव नहीं है। उसमें सकामोपासकोंके भीतर 'बुद्धिभेद' उत्पन्न न करने का आदेश किया गया है। इतना ही नहीं, विद्वान उन्हें उन्हींके अनुष्ठानोंमें लगादें। यहाँ मानव-स्वभावको उसके समग्र विस्तारके साथ ले लिया गया है और यह माना है कि सकामोपासकोंको अपनी कामनामयी प्रकृतिके द्वारा ही आगे बढ़ना है। ऐसे प्रसंगोंमें गीता 'शास्त्र विधि' को 'प्रमाण' बताती है। यह सब आनुषंगिक विषय है। गीताका धर्मादेश सकामोपासनासे पार होकर निष्कामभावसे 'स्वकर्मरत' होनेके लिये है। किन्तु गीताकी कर्मसाधना 'कर्म-योग' है, 'कर्म-काण्ड' नहीं। स्वकर्म ही साधककी 'अर्चना' है। उसका आध्यात्मिक महत्त्व है।

अध्यात्म-धर्म

गीता जिस 'स्वधर्म' और 'स्वकर्म' के द्वारा परा सिद्धिकी ओर ले जानेका आदेश करती है, उसके मूलमें साधककी अध्यात्म सत्ता निहित है। गीताके तत्त्व-प्रकाशमें मानव व्यक्तित्वका केन्द्र, उसका वास्तविक 'स्व' त्रिगुणातीत आत्म तत्त्व है। वह सांख्य की जड़, प्रकृतिका कोई जड़ विकार नहीं है। गीताकी अपनी भाषामें 'मन-बुद्धि-अहंकार-युक्त' 'अष्टधा प्रकृति' से परे दिव्य जीवभूता 'परा प्रकृति' है एवं जीवात्मा परमात्माका 'सनातन अंश' है। अतः मानव व्यक्तित्वका केन्द्रीय 'स्व' कोई प्राणिक मनोमयी रचना मात्र नहीं है। वह दिव्य चिन्मय आत्म तत्त्व है। वह जड़ प्रकृतिसे उत्पन्न अथवा उसमें सीमित उसके अधीन मनोविकारोंका, अथवा प्राणिक चेष्टाओंका खेल नहीं है। हाँ, देह-प्राण-मनोमयी एक वैयक्तिक रचनाको उसने अपने यन्त्रके रूपमें केवल धारण किया हुआ है और उसकी प्रवृत्तियोंका वह स्वयं द्रष्टा तथा अनुमन्ता है। अतः 'स्व' पर केन्द्रित 'भाव' 'धर्म' और 'कर्म' का आध्यात्मिक रहस्य है। 'स्वधर्म' का सच्चा आशय मात्र किसी वर्ग विशेषकी कर्म-परम्परा अथवा 'जाति-धर्म' नहीं होगा और न वह केवल मनोस्फूर्त प्रवृत्तियों का पर्याय मात्र होगा। वह रहस्यात्मक आध्यात्मिक साधन है, जिस गीता की भाषा में

'योग' कहना चाहिये। श्रीकृष्णने कई प्रसंगोंमें धर्मको आध्यात्मिक श्रेय-साधनाके रूपमें प्रकाशित किया है। दूसरे अध्याय में 'समत्व' की महिमा बताते हुए 'बुद्धि योग' के विषय में वे कहते हैं:—

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" (गीता २–४०)

अर्थात् इस धर्मका थोड़ासा भी अंश महान् भयसे मुक्त करने वाला है।

इसी प्रकार श्रीकृष्ण नवें अध्यायके आरम्भमें उत्तम एवं पवित्र राजविद्या 'राज-गुह्य' का रहस्य उद्घाटित करते हुए उसे 'धर्म्यं' कहते हैं और उसका महत्व इस प्रकार समझाते हैं कि उस राज-विद्याके प्रति अश्रद्धा 'अमृत' पदको प्राप्त नहीं होने देती। (गीता ९/२,३) स्पष्ट ही है कि इन प्रसंगोंमें धर्मका आशय आध्यात्मिक साधना है। श्रीकृष्ण आध्यात्मिक साधनाके 'ज्ञान', 'भक्ति' एवं 'कर्म' इत्यादि सभी योगोंका सुन्दर सामंजस्य विकास गीतामें करते हैं। वारहवें अध्यायमें भक्ति-योगसे समन्वित सद्वृत्तियोंका विस्तृत निर्देश किया गया है। "भक्त, द्वेष-विहीन, सबका मित्र, करुणामय, ममत्व-रहित, अहंकार-हीन. सुख-दुःखमें समान, क्षमाशील, सदा सन्तुष्ट, यतात्मा, दृढ़ निश्चयी एवं भगवदर्पित मन बुद्धिवाला होता है। उससे कोई उद्विग्न नहीं होता और वह भी स्वयं किसीसे उद्विग्न नहीं होता। हर्ष, अमर्ष, भय और उत्तेजनाओंसे वह मुक्त होता है। वह आकांक्षा-रहित, पवित्र, दक्ष, उदासीन, व्यथारहित एवं समस्त आरम्भोंका परित्यागी होता है। वह न हर्षित होता है न द्वेष करता है, न शोकान्वित होता है, न कोई आकांक्षा करता है, शुभाशुभका परित्यागी होता है। वह शत्रु और मित्रके प्रति, मान और अपमानमें, सर्दी-गर्मीमें और दुःख-सुख में समान भाव रखनेवाला, आसक्ति-रहित होता है। निन्दा और स्तुति उसके लिये एक जैसे होते हैं। मौनयुक्त, सब प्रकारसे सन्तुष्ट, अनिकेत, स्थिरमति, भक्तिभावसे श्रद्धा पूर्वक भगवान्‌की उपासना करता है।" इस भक्ति साधनाको श्रीकृष्ण 'धर्म्मामृत' कहते हैं। (गीता १२/१३–२०)

उपर्युक्त समस्त सद्वृत्तियाँ आन्तरिक साधनाके महत्वपूर्ण अङ्ग हैं और उन्हें गीता में धर्मके पूर्वकथित अन्यान्य सभी रूपोंसे उच्चतर स्थान दिया गया है। यदि हम गीताको समग्र भावसे देखें तो निर्विवाद रूपसे कहा जा सकता है कि वह अध्यात्म-साधनाको ही धर्मका सार मानती है। आध्यात्मिक साधक ही 'धर्मात्मा' है। धर्मके परम्परागत, शास्त्रगत एवं व्यक्तिगत समस्त रूप आध्यात्मिक साधनाके लिये ही हैं और मूलतः उसीसे प्रेरित हैं।

गीता-धर्ममें आध्यात्मिक साधनाकी प्रमुखतासे कदाचित् ऐसा अभिप्राय प्रतीत हो सकता है मानो जागतिक जीवन एवं लोकव्यवहारकी उसमें अवहेलना की गयी हो अथवा उसमें सामान्य सांसारिक जीवनके प्रति तिरस्कार अथवा उपेक्षा भाव हो। किन्तु गीताका अभिप्राय स्पष्टतः कदापि ऐसा नहीं है। आध्यात्मिक साधनासे सम्बन्धित सद्वृत्तियोंका अनुशीलन साधकमें व्यापक मानव-धर्म के सार्वभौम सद्गुण सम्पादित करनेमें समर्थ है।

आध्यात्मिक धर्म एक ओर वैयक्तिक 'स्वधर्म' का प्रेरक है, दूसरी ओर वह जाति-धर्म एवं कुल-धर्मका मूल है, तीसरी ओर वह शास्त्र-धर्मका प्रकाशक है और चौथी ओर सार्वभौम मानव-धर्मका पोषक है। इस प्रकार चतुर्दिक सामर्थ्यसे सम्पन्न है गीता-धर्मका वह आध्यात्मिक केन्द्र जो स्वभावतः और स्वरूपतः 'अमृत धर्म' है।

गीता-धर्मके एक एक चरणका अवलोकन यह प्रदर्शित करता है कि हमारी धर्मचेतना के विकसनशील विविध स्तर हैं। लोकानुसारिणी अनुकरण-वृत्तिके लिये 'लोक-धर्म', मनोवैशिष्ट्य पर केन्द्रित 'स्वधर्म', जगद्व्यापी सूक्ष्म, नियम विधानपर आश्रित 'शास्त्र धर्म', समष्टि भाव-सम्पन्न सार्वभौम 'मानव-धर्म', तथा आत्मबोधरत नित अध्यात्म धर्म क्रमशः 'गीता-धर्म' के विविध अङ्ग हैं जो परस्पर समवेत होकर जीवन-व्यापी धर्मकी परिपूर्णता सिद्ध करते हैं। अपरंच, धर्म अपनी सभी अवस्थाओंमें सदा त्रिभङ्गी है। वह बोधात्मक है, भावनात्मक है एवं क्रियात्मक है। अतः उसमें जीवनकी सर्वाङ्गीणता निहित है।

भागवत—धर्म : साधर्म्य

आध्यात्मिक साधनाके रूपमें धर्मका भाव गीतामें प्रायः ओत-प्रोत है। इस आध्यात्मिक साधनाकी परासिद्धि उच्चतम दिव्य जीवनमें है। साधक पहले बहिर्मुखी जीवनकी सुव्यवस्थाओंसे अन्तराभिमुखी अध्यात्म साधनामें उतरे और अन्तमें आत्मोत्क्रमण करके सर्वशः भगवच्चैतन्यमें उन्नीत हो जाय, यह होगा गीता-निर्दिष्ट आद्योपान्त धर्म-जीवन। इसकी ओर गीताके वे समस्त संकेत हैं, जिनसे श्रीकृष्ण (अर्जुनके माध्यम से) योगीको कर्मणा, मनसा, बुद्ध्या, सर्वभावेन उस परात्पर दिव्यके साथ एक हो जाने के लिये, उसीमें प्रतिष्ठित बन जानेके लिए, प्रेरणा देते हैं। भागवत जीवनकी (सर्वोपरि) भूमिकामें भी धर्मका एक दिव्य आशयमें सन्निवेश हुआ है। यहाँ परात्पर दिव्यातिदिव्य तत्व, स्वयं पुरुषोत्तम 'शाश्वत धर्म-गोप्ता' (गीता-११।१८) उन्हीं भगवान्से लब्ध उत्तम ज्ञानका आश्रय लेकर परा सिद्धिको प्राप्त करते हुए भागवत जनका भगवद्धर्ममें आरोहण होता है। ("साधर्म्यमागताः") इस 'साधर्म्य' में धर्मकी पूर्ववर्त्ती समस्त भूमिकाओंका अतिक्रमण है। यह भागवत धर्म 'लोक-धर्म', 'जाति-धर्म', 'कुल-धर्म', 'शास्त्र-धर्म', 'स्वधर्म' इत्यादि समस्त धर्मोंसे अतीत सर्वोपरि धर्म है। इसमें भगवान्के साथ तादात्म्य भाव है। मानवीय धर्म भूमिकाओंसे यह सर्वथा परे है। इसकी दिव्यतामें समस्त मानवीय सीमाएँ तिरोहित हो जाती हैं एवं इसी भागवत-धर्ममें समस्त मानव-धर्मोंका विलयन हो जाता है। अपनी-अपनी विशेष भूमिकापर प्रत्येक धर्म-साधकके उन्नयनमें सहायक होता है किन्तु वही धर्म आगे की प्रगतिमें बाधक भी बन सकता है। धर्मकी जो प्रसिद्धि भगवच्चैतन्य मे, भगवज्जीवन में, भगवत्तामें 'साधर्म्य' हो जाती है उसकी साधनाके लिए भगवान् का आदेश है :— "सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"

मानवका सृष्टि, विकास और उसके चरमलक्ष्यका वैज्ञानिक विवेचन

मानव जीवनका प्रवाह अनादिकालसे अव्याहत रूपमें प्रवाहित होता चला आरहा है। सृष्टि, और लयकी, उत्थान और पतनकी कितनी कहानियाँ बन चुकीं और कितनी अभी बननेको शेष हैं! पर उन समस्त कहानियोंमें केवल वही कहानियाँ तो स्मरणीय बन सकी हैं, जिनमें भगवान्‌की भगवत्ताके प्रति निस्पृह आत्म-समर्पण है। मानव-जीवनका यही चरमलक्ष्य भी है।

छबीले मुरली नेकु बजाउ

डा० श्रीराजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी बी-एस०-सी०,
एम० ए०, सा०र०, पी-एच० डी०, डी० लिट्

विस्मय और जिगीषाद्वारा प्रेरित मानव अपने विकासपथपर अग्रसर होता आया है। प्रकृतिकी प्रत्येक-घटना आदि मानवकेलिए नवीन थी, विस्मयकारिणी थी। जिगीषा द्वारा प्रेरित मानवने प्रकृतिके नियमोंका उद्घाटन किया और प्रकृतिके साथ, ईश्वरकी इच्छाके साथ उसने साहचर्य स्थापित किया। ज्ञान-विज्ञान और धर्मके विकासकी यह कहानी मानव सभ्यता और मानव-संस्कृतिके विकासके साथ अछेद्य रूपसे सम्बद्ध है।

मानव पर्यवेक्षण, परीक्षण, और प्रयोगद्वारा प्रकृतिपर विजय प्राप्त करके अपनी स्वतन्त्रताकेलिए और अनेकानेक प्रकारके भयसे मुक्तिकेलिए बराबर संघर्ष करता आया है, और इस विश्वमें उसको पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई है। परन्तु इसके साथ ही साथ वह अपने प्रयत्न और परिश्रमके फलके प्रति सदैव सशंक रहता आया है, क्योंकि प्रकृतिके

नियमोंके ज्ञानमें सदैव कोई न कोई छिद्र रह ही जाता है और दुर्घटनाकी सम्भावना बनी रहती है। इस प्रकृतिके निकेतनोंमें इतने अधिक आवरण हैं कि उनका अन्त नहीं है। अनेक आवरण उठानेके बाद भी अनेक आवरणोंकी सम्भावना विद्यमान दिखाई देती है। मेरा प्रयत्न कहीं व्यर्थ न हो जाए, मेरे प्रयत्नका फल न मालूम क्या हो आदि आशंकापूर्ण भाव मानवके अवचेतनमें अपनी क्रीड़ा किया करते हैं। निष्कर्ष यह है कि भय, निराशा और स्वतन्त्रता-प्रेमकी त्रिवेणीमें अवगाहन करता हुआ मानव अपने जीवन-दर्शनके इन्द्र-धनुषोंकी सृष्टि करता आया है।

अस्तित्ववादने आधुनिक बुद्धि जीवीको अत्यधिक प्रभावित किया है। यह जीवन-दर्शन एक ओर समस्त बन्धनोंको अस्वीकार करता है और दूसरी ओर भय और निराशा के परिवेशमें मानव-जीवनके मूल्योंका आकलन करता है। हमारे भोगवादी प्रयत्न पूर्णतया सफल नहीं होते हैं अथवा संग्रहके क्षेत्रमें हमको अपने प्रयत्नोंके अनुरूप फलकी प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि अनेक बाह्य कारण उसमें अवरोध उत्पन्न करते हैं। त्यागके क्षेत्रमें भी हम पूर्णतया सफल नहीं होते हैं, क्योंकि हम पूर्णतया त्यागशील नहीं बन पाते हैं—संग्रह या भोगकी वृत्ति हमें सर्वस्व त्याग नहीं करने देती है। इस प्रकार भोग और त्याग–दोनों ही प्रयत्नक्षेत्रोंमें हमें निराश होना पड़ता है। अतः निराशाके क्षेत्रमें ही, निराशापूर्ण वाता-वरणमें ही हम जीवनके मूल्योंका आकलन-संकलन कर सकते हैं। हमारी स्थिति नागफनी की भांति है। समस्त बाह्य वातावरण हमारे प्रतिकूल है। हम अपनी आन्तरिक शक्तिके द्वारा ही बाहर चलनेवाली सूखी और गर्मआंधीसे संघर्ष करते हुए जीवित हैं। हम सब तरह अकेले हैं परन्तु फिर भी जीवित हैं। न हम किसीकेलिए हैं, न कोई हमारे लिए है। भय और निराशा मिश्रित उद्दण्डता वस्तुत: अस्तित्ववादका बीज भाव है। यह जीवन-दर्शन आधुनिकतम जीवन-दर्शन कहा जाता है। इसका इतिहास केवल १५० वर्ष पुराना है। आत्मवादी परिधानमें प्रस्तुत होनेवाला यह एक अनात्मवादी जीवन-दर्शन है। इस जीवन-दर्शनसे प्रभावित आधुनिक मानव यदि धर्मभावनाके प्रति उदासीन हो गया है, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही है, क्योंकि मार्क्सवादी जीवन-दर्शनसे प्रभावित होकर सामाजिक ईश्वर और समाज दोनोंके प्रति विश्वास खो चुका है। आत्मा-परमात्माको अस्वीकारकर देनेके कारण मानव-मन निरावलम्ब हो गया है, वर्ग संघर्षके प्रति आश्वस्त होकर कृतज्ञताको उसने तिलांजलि दे दी है और इस प्रकार समाजका प्रत्येक समर्थ व्यक्ति उसको शोषक शत्रुके रूपमें दिखाई देता है।

परन्तु हमको निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। विज्ञान प्रसूत कुण्ठाएं सदासे मानवको अभिभूत करती आई हैं। राम और कृष्णके अवतरण द्वारा भारतवर्षके आर्ष-ऋषि धर्म और भक्ति-भावनाकी प्रतिष्ठा करते आये हैं। रामने जन्म लेकर धर्मके द्वारा कई बार विज्ञान रूप रावणका पराभव किया है और कृष्णने जन्म लेकर कई बार ज्ञान मार्त्तण्ड द्वारा झुलसे हुए मानव मनको भक्तिकी सुधा-वृष्टिद्वारा सरस-सुहाया बनाया है। भारतीय

वाङ्मयके अन्तर्गत जो राम-काव्य और कृष्ण-काव्यके दर्शन होते हैं, उनके पीछे ऋषि हृदयकी उदात्त कल्पना है। सम्पूर्ण रामकाव्य विज्ञानके ऊपर धर्म और भक्तिकी विजय की रोचक एवं प्रेरणाप्रद कहानी है। सम्पूर्ण कृष्ण-काव्य नीरस अक्षरज्ञानको श्रद्धा समन्वित करके व्यावहारिक जीवनको सरस और सद्भावनापूर्ण बनानेवाला एक मनोहारी उपाख्यान है। राम काव्यका निष्कर्ष यह है—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहि जय होय सो स्यंदन आना।

× × × ×

सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन्ह कहं न कतहुं रिपुताकें।

महा अजय संसार रिपु जीति सकहु सो वीर।
जाकें अस रथ होय दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥

और कृष्ण काव्यका निष्कर्ष यह है—

चल-चित-पारद की दंभ-कंचुली कै दूरि
ब्रज-मग-धूरि प्रेम-पूरि सुभ-सीली लै।

× × ×

आए लौटि ऊधव बिभूति भव्य भायनि की
कायनि को रुचिर रसायन रसीली लै।

विश्वके इतिहासकी तीन घटनाएं सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं— (क) मूल प्रकृतिकी सृष्टि, उस पदार्थकी उत्पत्ति जिसके द्वारा विश्वके विभिन्न पदार्थोंका निर्माण हुआ है अथवा इस विश्व-भवनको बनानेवाले पदार्थ---ईंट, चूना आदि सदृश सामानकी सृष्टि, (ख) स्फूर्ति सम्पन्न रूपोंकी सृष्टि, भाँति-भाँतिके सुन्दर आकार-प्रकार वाले जीवों, भवनों का निर्माण और (ग) स्फूर्ति सम्पन्न इन रूपोंमें चेतनातत्व अथवा परमार्थतत्वकी उत्पत्ति, अथवा जब इन अनेक रूपधारी भवनोंमें मकानमालिक या किराएदार आकर रहने लगा। चेतनातत्व केवल ज्ञानियोंकीही मान्यता नहीं है। यह वैज्ञानिकोंद्वारा स्वीकृत एक तथ्य है। न्यूटनने इसको अज्ञात प्रेरणा (Impulse) के रूपमें स्वीकार किया था और इसके निरूपणका कार्यभार परवर्ती वैज्ञानिकोंके कन्धोंपर डाल दिया था। पिण्डोंके पारस्परिक आकर्षणकेलिए उसने (Attraction) शब्दका प्रयोग न करके (Gravitation) शब्द का प्रयोग किया, क्योंकि वह 'आकर्षण' शक्तिमें निहित चेतनतत्वके प्रति पूर्णतया आश्वस्त

नहीं था। यह कार्य कालान्तरमें 'गामो' और 'आइन्स्टीन' ने पूर्ण किया। अब वैज्ञानिक जीवन और चेतना—दोनोंको स्वतः स्फूर्त गुण (Emergeme Properties) मानते हैं। जीवन-संचालन सम्बन्धी वैज्ञानिक सूत्र यह माना जाता है—चेतना जीवनीशक्तिके सम्यक् नियमन द्वारा ऊर्जा (पदार्थ)का संचालन करती है (Consciousness uses life to control energy)। मानवका विकास कुछ इस प्रकार हो रहा है कि इस सूत्रके सम्यक् निर्वाहमें यथासमय अनेक व्यवधान उपस्थित होते रहते हैं और हम संतुलन एवं असंतुलनकी धूपछांहमें खेलते रहते हैं।

जैविक द्रव (Pistaflasm) जीव-सृष्टिका मूल भूत कारण माना जाता है। इससे कोशिका (Cell) का निर्माण होता है। यह कोशिका ही वस्तुतः वह जीवन्त ईंट है, जिसके द्वारा समस्त जीव रूपी इस विशाल भवनकी सृष्टि होती है। प्रजनन, अनुकूलता यथाकाल व्यवस्था, संवेदनात्मकता, चेतना आदिक कोशिकाके गुण हैं। इनका विकास ही वस्तुतः जीव और जीवनका विकास है। इनके विकासके अनुरूप ही जीवके विकास-स्तरका आकलन एवं निर्धारण किया जाता है। विकास-स्तरके साथ प्रजननकी प्रक्रिया भी जटिल होती जाती है। यहां तक कि मानवके स्तरपर उसमें वैशिष्ट्यके दर्शन होने लगते हैं। कोई भी दो मानव समान नहीं होते हैं—न धर्मकी दृष्टिसे, न रूपकी दृष्टिसे। मानव वैशिष्ट्य वरदान भी है, अभिशाप भी है। वह अपना मार्ग निर्धारण करनेकेलिए स्वतन्त्र है, वह अपना विकास अपने स्वभाव एवं धर्मके अनुसार करनेकेलिए स्वतन्त्र है। यह उसके वैशिष्ट्यका वरदान है। वह अपने अनुरूप अन्य किसीको नहीं देखता है, वह अपने आपको अपने समाजके अन्य प्राणियोंसे सर्वथा भिन्न पाता है, यह उसके वैशिष्ट्यका अभिशाप है। अपने स्वातन्त्र्यकी रक्षा करते हुए अपनेसे भिन्न प्राणियोंके मध्य अपने विकासके पथ पर अग्रसर होते रहना मानवजीवनकी चरम साधना है। इसीको 'स्वधर्म' पालन द्वारा आत्म-विकास कहा जाता है। इसीलिए मानवमें व्यवहार कुशलता, यथाकालव्यवस्था आदिक गुणोंकी श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति अपेक्षित है। विश्लेषण और संश्लेषणका समन्वय, भिन्नत्वमें अभिन्नत्व और अभिन्नत्वमें भिन्नत्वका दर्शन मानव-जीवनकी सफलताकी कसौटी है।

बुद्धि मानवको कभी ज्ञानकी ओर और कभी विज्ञानकी ओर प्रवृत्त करती है। उसका हृदय दोनोंके मध्य सेतु बाँधता है। ज्ञान और विज्ञानके बीचकी खाईंको कम करने वाले इसी सेतुका नाम धर्म है। विचार और व्यवहारके मध्य सम्बन्ध-सूत्रको अक्षुण्य बनाये रखनेके लिए धर्माचार्योंने "अभ्यास और वैराग्य" के व्यावहारिक जीवन-दर्शनका प्रतिपादन करते हुए तीन ऋणों—पितृऋण, देवऋण और ऋषिऋणसे उऋण होनेका विधान किया। जब तक मनुष्य इन तीनों ऋणोंसे मुक्त न हो जाए, तब तक उसके कर्त्तव्यका अभिमान करनेका अथवा बड़ा बोल बोलनेका अधिकार नहीं है। कर्म-फलके त्यागका अभ्यास कर्तृत्वके अभिमानसे मुक्ति-प्राप्तिका मूल मन्त्र है। यही सेवा-धर्म अथवा

भक्तिभाव है। व्यष्टि रूपमें जो सेवा है, समष्टि रूपमें वही भक्ति है। हमारे भक्त कवियोंने भक्ति-भावनाद्वारा पर्यवेष्ठित करके इसी सेवाधर्मका लोकाभिराम शैलीमें प्रतिपादन किया है। भक्ति-काव्य ग्रन्थोंमें भगवान्‌के चरणरजकी बहुत महिमा गाई है। प्रश्न हो सकता है, चरण-रज ही क्यों, मस्तककी रज क्यों न धारण की जाए ? क्या प्रभुके मस्तकपर गिरने वाली रजमें उद्धार करनेकी सामर्थ्य नहीं होती है ? हमारे भक्ति ग्रन्थोंमें प्रतीकात्मक शैलीमें रहस्योंको कथारूपमें प्रस्तुत किया गया है। चरण सेवाके प्रतीक हैं। ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मण, भुजाओंसे क्षत्री, उदरसे वैश्य तथा चरणसे शूद्र उत्पन्न हुए थे। शूद्रका धर्म समाजकी सेवा बताया गया है। जब तक मनुष्य सेवाभावको धारण न करे, तब तक उद्धार असम्भव है। प्रभुकी भक्ति द्वारा अनुगृहीत होनेवाले अधिकांश भक्त प्रायः शूद्र ही हैं, वे निम्न योनिमें उत्पन्न जीव ही हैं। रामचरितमानसमें रामकथाके सर्वाधिक महत्व-पूर्ण गायकवक्ता कागभुशुंडि हैं। वह भगवान्‌के सबसे बड़े भक्त हैं। उनको अपना यह असुन्दर और समाज द्वारा उपेक्षित रूप ही प्रिय है, क्योंकि इसी तथा कथित म्लेच्छयोनि में ही उनको रामकी भक्तिकी, जीवनके रहस्यपूर्ण ज्ञानकी उपलब्धि हुई थी—

> यातें यह तन मोहि प्रिय भयेउ राम पद नेहु।
> निज नयनन्ह प्रभु देखेउं गयेउ सकल संदेहु।

अपने जीवनमें एक बार कागभुशुंडिको भेद बुद्धिने सताया था। उन्हें उसकी भारी कीमत चुकानी पड़ी। परन्तु वह अपनी साधनामें लगे रहे। उन्हें देखकर राम मुसकुरा दिये—

> मोंहि बिलोकि राम मुसकाहीं। बिहँसत तुरत गयेउ मुख माहीं।

विश्वरूप रामके साथ अभेद स्थापित होते ही वह पारस हो गये—

> जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहुँ न समाइ।
> सो सब अद्भुत देखेउं, बरनि कवनि विधि जाइ।

विश्व चेतनामें निहित महती योजनाके दर्शनने कर्त्तापनके अहंकारको आमूल नष्ट कर दिया। वह अपनेको नगण्य निमित्त मात्र समझने लगे। रामकी मायाने मानों अपना कार्य करना बन्द कर दिया। इस अभिनव स्थितिके संस्पर्शने कागभुशुंडिके मन-मानसमें नव-चेतनाका संचार कर दिया। वह विगत-विमोह हो गये। उनको मानो मन-भावना वरदान मिल गया। वह अपने प्रभुके प्रति पूर्णतया आश्वस्त होकर पूर्ण आत्मविश्वासके साथ कहने लगे—

> भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु व्यंजन जैसे।

परन्तु इस अनुभूतिके लिए जन्म-जन्मान्तरकी साधना अपेक्षित है। कागभुशुंडि ने अनेक जन्मोंमें अयोध्या जाकर रामके बालचरित देखनेकी साधनाकीथी। तब कहीं उनकी ओर उन्मुख हुए थे। अथवा वह सर्वतोभावसे रामके प्रति उन्मुख हो सके थे। वह स्थिति सर्वथा स्पृहणीय थी--

तेहि कौतुक कर मरम न कहहूं। जाना अनुज न मात पिता हूं।
ज्ञान पानि धाए मोहि धरना। स्यामल गात अरुनि कर चरना।

अब भी मनमें कुछ मैल शेष था। भेद-बुद्धि अभी भी कर्तृत्वके अभिमानको तिनके का सहारा दिए हुए थी, बूंद अपनी बूंदताको छोड़कर सागरमें मिल जानेको अभी भी पूरी तरह तैयार नहीं थी--

तब मैं भागि चलेउ उरगारी। राम गहन कहुं भुजा पसारी।
जिमि जिमि दूर उड़ाउं अकासा। तहं भुज हरि देखहुं निजपासा।
मूंदेउ नयन त्रसित तब भयऊ। पुनि चितवत कोसलपुर गयऊ।
मोहि बिलोकि राम मुसकाहीं। बिहँसत तुरत गयउ मुख माहीं।

अब क्या था? भुशुंडि रामरूप हो गए और उनके समस्त मोह भ्रम मिट गए--

तब ते मोहि न व्यापी माया। जब तें रघुनायक अपनाया।

रामरूप होकर मुक्त अवस्थाकी यह प्राप्ति अनेक जन्मोंकी साधनाके फलस्वरूप प्राप्त हुई थी, यों ही नहीं--

यह रहस्य रघुनाथ करि, बेगि न जाने कोय।
जो जाने रघुबर कृपा, सपनेहुं मोह न होय।

भगवान् रामने जानकी-लक्ष्मण सहित गंगा पार करनेके लिए जब नाव मांगी, तब केवटने यही कहा कि "बरू मारिए मोहि बिना पग धोए हौं नाव न नाथ चढ़ाइहौं जू।" वह भी उनके चरण-रजकी महिमासे अवगत था--

चरन कमल रज कहं सब कहई। मानुष करन मूरि कछु अहई।

रामकी चरणरजको धारण करनेवाला मनुष्य मनुष्य बन जाता है, जड़को चेतनता और मूर्खको ज्ञानकी उपलब्धि होती है। चरणकमलकी रजके स्पर्श मात्रसे उपल देह धारण करनेवाली गौतम नारी तपपुंजयुक्त अहिल्यारूपको प्राप्त हुई और मन भावना वर प्राप्त करके पतिलोकको चली गई। केवट निरन्तर निस्पृहभावसे सेवा करता था। वह सेवाके इस सुखको जानता था। वह उतराईमें मिलनेवाले पैसोंकी जगह कंचनकी राशि

क्यों न लेता ? रघुनाथजीने मणिजटित कंचन मुँदरी उतराईमें देकर मानों उसकी परीक्षा ली थी, परन्तु नेह-चीकने चित्तको रजराजससे असंपृक्त रखनेकेलिए कृत संकल्प केवट अपने निर्धारित मार्गसे विचलित नहीं हुआ। मनके सुखको सोनेके सुखके हाथों वेचना उसको स्वीकार नहीं हुआ। श्रीचरणोंको पकड़कर कहने लगा—

नाथ आज मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा।
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्हि विधि बनि भलि पूरी।

× × × ×

बहुत कीन्ह प्रभु लखन सीय, नहिं कछु केवट लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल वर देइ।

हीरेका पारखी केवट काँचके टुकड़ोंको क्यों स्वीकार करता ? वह जानता था कि निस्पृह सेवाके द्वारा ही सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है। स्वयं भगवान् राम अपने श्रीमुख द्वारा यह कहते आए हैं कि—

सो अनन्य गति जाके मति न टरै हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

महर्षि वाल्मीकिका भी यही अनुभव है कि—

जा कंह कछू न चाहिए, तुम सन सहज सनेहु।
बसहु निरन्तर तासु उर, सो राउर निज गेहु॥

जिसको सेवाभावका रस मिल जाता है, वह किसी पुरुषार्थकी इच्छा नहीं करता है। धर्म, अर्थ अथवा कामकी तो चलाई ही क्या, वह मोक्षकी कामनाभी नहीं करता है। जिसको देनेके सुखका स्वाद मिल जाता है, वह लेनेके सुख द्वारा अपनी साधनाको खंडित नहीं करना चाहता है—

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन कहँ राम भगति निज देहीं।

यह अक्षय एवं अपूर्व सुख प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें स्थित है। जिस प्रकार जल-सिंचनके द्वारा मेदिनीमें व्याप्त गंध प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार निस्पृह सेवाभावके संस्पर्श द्वारा जीवनको अपनी सुरभि द्वारा कृतकृत्य कर देनेवाले इस सुखकी अनुभूति होती है—

ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमक में आग।
तेरा सांई तुझ्झ में, जाग सकै तो जाग।

यह सुख हमें कब प्राप्त होगा अथवा इस सुखकी प्राप्तिकेलिए हमको कब प्रयत्न आरम्भ करना चाहिए ? यह सुख अभी और यहीं प्राप्त हो सकता है, यदि हम इसके लिए अभी और यहीं प्रयत्न आरम्भ कर दें। भगवान् कृष्ण प्रेमस्वरूप थे। वह सबसे प्रेम करते, सब उनसे प्रेम करते थे। उन्होंने अहभावसे रहित होकर अपने आपको वंशीकी भांति पोला कर दिया था—और वह प्रत्येक स्थान और प्रत्येक स्थितिमें जीवनका संगीत सुनते-सुनाते रहते थे। उनके संसर्गमें रहनेवाले अपढ़ ग्वाले इस रहस्यको जान गये थे कि मनुष्य जन्मका एक ही लक्ष्य है— प्रेमकी साधना, जीव-मात्रके हितका चिन्तन। वह प्रेममय श्रीकृष्णके प्रेममें अभिभूत होकर प्रतिक्षण प्रेमरूप कृष्णकी मुरलीकी तानमें तल्लीन बने रहते थे। अपने मन मानसमें विराजमान विश्वचेतनारूप श्रीकृष्णके प्रति वे यही आर्त्त-निवेदन करते रहते थे कि—"छबीले मुरली नेकु बजाउ।" इस जीवनसंगीतका वियोग वे एक क्षणके लिए भी सहन नहीं कर सकते थे। क्योंकि—

कृष्णकी मुरलीकी ध्वनि ही राजयोगियोंकी नीरव झंकार (The Voice of the silence) है तथा हठयोगियोंका अनहदनाद है। कबीर कहते हैं—

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ्या मदन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा

× × × ×

सुनि मंडल में मंदला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै।

× × × ×

पूरा मिल्या तबै सुख उपज्यौ, तन की तपनि बुझानी।

× × × ×

"दुरलभ जनम दुरलभ वृन्दावन दुरलभ प्रेम तरंग।
ना जानियै बहुरि कब ह्वै है, स्याम तुम्हारो संग।"

अनेक योनियोंमें भटकनेके पश्चात् तो यह मानव शरीर प्राप्त हुआ है, और फिर बड़े भाग्यसे साधना-भूमि वृन्दावनमें जन्म मिला है। वृन्दावन भगवान्‌का लीलाधाम है, जहाँ पुरुष और प्रकृतिमें पूर्ण समन्वय रहता है। इतने साधन और अवसर उपलब्ध होने पर भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम उत्पन्न हो—सेवाभावके प्रति मनकी प्रवृत्ति हो—यह कम सौभाग्य की बात नहीं है। इसे भी सुखद संयोग ही समझ लेना चाहिए। ऐसा संयोग उपस्थित होने पर भी जो व्यक्ति आन्तरिक प्रेरणाके अनुरूप जीवनमें आचरण न करे, उसे अभागा

ही कहा जाएगा। वृन्दावनके निवासी गोप ऐसे मूर्ख नहीं, जो हाथमें आए हुए अवसरको यों ही चला जाने दें, स्वर्ण अवसरपर चूक जाएं ? मनमें प्रेरणा होते ही उन्होंने अपना मार्ग निर्धारित कर लिया—

अपनी अपनी कंध-कमरिया ग्वालिन दयीं डसाइ ।
सौंह दिवाय नन्द-बाबा की रहे सकल गहि याइ ।।

जब साधक साधना-पथपर अविचल भावसे आरूढ़ हो, तब सिद्धि साधककी अनुगामिनी बननेको बाध्य हो जाती है—

सुनि सुनि दीन गिरा मुरलीधर चितए मुख मुसकाइ ।
गुन गंभीर गोपाल मुरली कर लीन्हीं तबहिं उठाइ ।।

× × ×

आयसु दियो गोपाल सबनि को सुखदायक जिय जानि ।
सूरदास चरननि रज मंगत निरखत रूप-निधान ।।

साधना आरम्भ करनेका समय और सिद्धि प्राप्त करनेका अवसर यहीं और यहीं है। हम एक बार पूरी शक्ति से और सच्चे मन से यह आत्म-निवेदन करके तो देखें कि—"छबीले मुरली नेकु बजाउ ।"

मधुकर स्याम हमारे चोर

मधुकर स्याम हमारे चोर ।
मन हर लियौ माधुरी मूरति निरख नयनकी कोर ।।
पकरे हुते आनि उर अन्तर प्रेम प्रीति कें जोर ।
गये छुड़ाय तोरि सब बन्धन दै गए हंसनि अँकोर ।।
चौंक परी जागत निसि बीती तारे गिनत भई भोर ।
सूरदास प्रभु सरबस लव्यौ, नागर नवल किसोर ।।

ऊधौ मन न भये दस बीस ।
एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग, को अवराधै ईस ।।
इन्द्री सिथिल भईं केसव बिनु, ज्यौं देही बिनु सीस ।
आसा लागि रहति तन स्वासा, जीवहिं कोटि बरीस ।।
तुम तौ सखा स्यामसुन्दरके, सकल जोग कै ईस ।
सूर हमारें नंद नँदन बिनु, और नहीं जगदीस ।।

सूरदास

आजका मानव ! क्या वह 'मनुष्य पद' पर प्रतिष्ठित है ? 'हाँ' या 'ना' कौन कहे, पर यह तो सत्य ही है कि आजका मानव हिंसा, प्रवंचना, अहंकार, एषणा, और स्वार्थकी प्रतिमूर्ति है। वेद, शास्त्र, उपनिषद् आदि धर्म ग्रन्थ यही कहते हैं कि यह तो मनुष्यका गुण नहीं। फिर, फिर आजका मानव…! मनुष्यका कल्याण इसीको समझनेमें अन्तर्निहित है।

आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्

श्रीरामचन्द्रराव दवे

विश्वके प्रत्येक अवतारोंने, चिन्तकोंने, मनीषियोंने धर्मको जितना महत्व दिया है, उतना ईश्वरके प्रतिपादनको नहीं दिया। किन्तु यह क्यों ? ईश्वरवादी दर्शन हो, या अनीश्वरवादी दर्शन हो परन्तु धर्मपर विशेष बल दिया है, क्योंकि धर्म आत्मोन्नतिको कहते हैं। वैशेषिक दर्शनकार महर्षिकणाद कहते हैं—

'यतोभ्युदय निश्श्रेयससिद्धिः सधर्मः'

जिसके द्वारा "अभ्युदय" हो और मोक्षकी प्राप्ति होती है, वह 'धर्म' है।

आजका मानव जिस संकट कालसे गुजर रहा है, उसकी कल्पना भी कलके मानवने नहीं की होगी, यत्र तत्र सर्वत्र क्रांतिका बोलबाला है, मृत्यु और विनाशके तांडवके "ठ" की थिरक चल रही है, पता नहीं द्रुतलय पर क्या होगा ?

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको हड़पनेकी प्रक्रिया बनाता है, कितने ही विनाशकारी नहीं, प्रलयंकारी अस्त्र शस्त्रोंका निर्माण कर रहा है, तिसपर भी ठस्सा है कि मानव संरक्षणके ये आधुनिक उच्चतम साधन हैं, इन उच्चतम साधनोंकी प्रतिक्रियाके नागासाकी और हिरोशिमा आदि कई ज्वलंत उदाहरण विद्यमान हैं।

जिस दिनसे मानवने भौतिकवादका आश्रय लेकर अपना दिव्य मानव जीवन दिव्यत्वकी ओरसे मोड़ लिया है, उस दिनसे वह पशुत्व, हिंसकत्व और निर्ममत्वका पुतला बन गया है। वेदमें स्पष्टोक्ति है—

"भूतायत्वा न अरातये"

"मैंने तुझे सेवा करनेके लिये पैदा किया है, न कि सताने के लिये।"

जीवनके वास्तविक आनंदसे अछूता रह मानव निम्नतर प्राणी बन गया है। सेमुअर बटलर कहते हैं कि—

"मनुष्यके सिवाय और सब प्राणी जानते हैं कि जीवनका उद्देश्य जीवनका आनंद लेना है।"

मानव शरीर आत्मोन्नतिके लिये दिया हुआ ईश्वरका प्रथमेषु प्रथमः (फर्स्ट-क्लास-फर्स्ट) उपहार है, पर उपहारका दुरुपयोग हम उसी तरहसे कर रहे हैं, जैसे बन्दरोंके हाथ जवाहरात।

हम साधनको साध्य मान बैठनेकी गलती कर रहे हैं। जो शरीर धर्मसाधनार्थ, मोक्षसाधनार्थ वा आत्मकल्याणार्थ साधन रूपमें प्रदान किया गया था, उस साधनको सर्वस्व मान "साध्य" को ही भूल गये हैं।

जो इंद्रियां हमारे सुख साधनार्थ (आत्मकल्याणार्थ) हमारी दासियां हैं, हमने अपने हाथसे उन इंद्रियोंको शासनके सिंहासन पर अभिषिक्त कर उनका दासत्व स्वीकार कर लिया है।

मानवेतर जीवोंमें गुणग्राहकता नहीं है, गुणग्राहकता होनेके कारण ही मानवको मानव कहा जाता है, किन्तु 'बौथियस" कहता है—

"अन्य प्राणियोंमें आत्मज्ञानका अभाव उनकी प्रकृति है, मनुष्य में वह दुर्गुण है।"

जिसमें स्वतंत्र (अपने तंत्रकी) विचार करने की शक्ति हो, वही "मनुष्य" है अन्यथा——……।

आजका मानव अपनी परिभाषासे हीन हो चुका है. ऐसा लगता है कि राक्षस भौतिकवादका सम्पूर्ण लाभ उठाकर, राक्षस शरीरको मानव शरीरमें परिणत करके मानव ढाँचेमें रहने लग गये हैं, क्योंकि मानवमें मानवता कहीं दिखाई नहीं देती है, वह विवेक शून्य हो चुका, अपना शत्रु आप बन बैठा है। "प्लैटो" का कहना है—

"आओ, हम सबसे अधिक इस बातका ध्यान रखें कि इस विपत्तिसे हम ग्रस्त न हों, हम विवेक द्वेषी न बनें, जैसे कुछ मानव द्वेषी हो जाते हैं, क्योंकि मनुष्यकेलिये इससे बड़ा दुर्भाग्य क्या हो सकता है कि वह विवेकका ही शत्रु बन जाए।"

एक देशका नहीं, सम्पूर्ण पृथ्वीका भी राज्य प्राप्त कर लिया, या सम्पूर्ण पृथ्वी भौतिक दृष्टिसे अपने अन्तर्गत (अधीन) कर भी ली, पर यदि आत्मोन्नतिका मार्ग नहीं तो क्या लाभ ?

बालक नचिकेताको 'यमराज' ने बड़े-बड़े प्रलोभन दिये, किन्तु वह प्रलोभनोंमें न फँसकर कहता है—

न प्रभूतेन वित्तेन तर्पणीयः मनुष्यः। नहिलोके वित्त लाभः कस्यचित् तृप्ति करो दृष्टः। अतः मुझे मिथ्या भोगोंसे प्रलोभित करना छोड़, ज्ञान दीजिये, जिससे मेरा आत्म कल्याण हो।

मनुष्य सबका मित्र बनना चाहता है, पर अपना मित्र नहीं बनता। क्योंकि अपने स्वयंके मित्र बननेके लिये बड़ी ही योग्यताकी आवश्यकता है और आजके मानवमें इस योग्यताका ही अभाव है।

अमानुषिक प्रवृत्ति ही भौतिकवादका प्राण है, क्योंकि भौतिकवादी स्वार्थपरक, दयाहीन, दूसरोंके हकोंको समेटनेमें सिद्धहस्त होता है।

आज बड़ी ऊँचाईसे भाषण दिये जा रहे हैं, बड़ी ऊँचाईसे लिखा भी जा रहा है, किन्तु माखनलाल चतुर्वेदी कहते हैं "हृदय और मसीपात्र दोनों तो काले हैं।"

एक दिन था, सृष्टि रचनाकालमें अनेकानेक प्राणियोंके शरीर बनाकर ब्रह्माको संतोष नहीं हुआ। वह उद्विग्न हो गया, तब सारी कलाओंके ज्ञान और अनुभव द्वारा जब मनुष्य बनाया, तो उसके आनन्द की सीमा न रही, वह अत्यन्त प्रफुल्लित हो उठा, गर्वसे उसका सीना तन गया, ब्रह्माकी कलाकी वह इतिश्री जो थी, पर आज वही सर्वोपरि कलाकार इस मानवको देखकर आँसू बहा रहा है। उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि मेरी सर्वोत्कृष्ट कला का यह रूप सबके अंतमें जाकर खड़ा रहेगा।

कहाँ "आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्" और कहाँ "अन्तवन्त इमे देहा" के लिये सांसारिक उपभोगोंमें लुभायमान होकर अमूल्य अवसर को गवांना–गया वक्त फिर हाथ आता नहीं।

तैत्तरीय उपनिषदमें कहा गया है ऋतका, सत्यका, तपादिका–किसीका भी पालन करें, किन्तु "ऋतं च स्वाध्याय प्रवचनेन च" स्वाध्याय और प्रवचनको न छोड़ें। यहाँ स्वाध्याय का अर्थ है स्व–अपना अध्ययन। स्व का निरीक्षण कर, जो ज्ञान प्राप्त हो, उसका प्रवचन करें, अन्योंको भी उपदेश दें।

भक्ति-रस

जब ईश्वरमें निष्ठा होती है, जब संसारासक्ति लुप्त हो जाती है, तभी मन शान्त होता है। शान्त रस भक्तिका प्रथम सोपान है। परमेश्वर परमब्रह्म परमात्मा है—यह ज्ञान भक्तके चित्तमें शान्त रसमें उदय होता है।

दास्यरतिमें भक्तके मनमें ममताका संचार होता है। वह भगवान्‌की सेवा करनेमें व्यस्त होता है। श्रीकृष्ण-सेवाके सिवा उसको और कुछ अच्छा नहीं लगता। वह भगवान्‌से कुछ भी कामना नहीं करता, केवल उनकी सेवा करना चाहता है।

सख्यरस का प्रधान लक्षण यह है कि भक्तके सामने भगवान्‌की अपेक्षा और कोई प्रियतर नहीं। गुहराज कहते हैं—पृथ्वी पर रामकी अपेक्षा कोई मेरा प्रियतर नहीं।' जो भक्त प्राणोंके भीतर भगवान्‌के साथ क्रीड़ा करता है, वही सख्यरस की माधुरीका उपभोग कर सकता है। सख्यरतिमें भक्त भगवान्‌को अपना अलंकार बना लेता है। वृन्दावनके मार्गमें अन्ध विल्वमंगलके पथप्रदर्शक श्रीकृष्ण बलपूर्वक जब उनका हाथ छुड़ाकर चले जाते हैं, तब विल्वमंगल कहते हैं—

"श्रीकृष्ण तुम बलपूर्वक हाथ छुड़ाकर चले जाते हो, इसमें आश्चर्य क्या है? हृदय से यदि तुम दूर हो सको तो मैं जानूँ कि तुमारेमें बल है।" भक्तने अपने सखाको सर्वथा हृदयका अलंकार बनाकर बाँध रक्खा है। अब भगवान्‌के लिए भागनेका रास्ता नहीं है।

वात्सल्यरसमें भगवान् गोपाल हैं। भक्त उनको पुत्रके समान प्यार करता है, स्नेह करता है, गोदमें ले लेता है। माता यशोदाके सामने भगवान् गोपाल-वेशमें उपस्थित होकर प्रेम-भिक्षा करते थे, वह उनको थोड़ासा प्रेम दिखाकर फिर विमुखकर देते थे। फिर यदि वह अन्तर्हित होजाते थे तो गोपालके वियोगमें भक्त अनुताप से छटपटाने लगते थे।

महात्मा अश्विनीकुमार दत्त

भगवान्के रूप, नाम और सौन्दर्य-रसमें सब कुछ डूब जाता है—योग, ज्ञान, मुक्ति और आत्मानन्द, सब कुछ। जिसने रूप, नाम और सौन्दर्य-रसका पान कर लिया, उसे फिर किसीकी 'चाह' नहीं रहती। ब्रज की गोपियाँ और श्रीराधाजी भगवान्के रूप, नाम और सौन्दर्यपर अपना सर्वस्व निछावर करके ही तो स्वयं श्रीकृष्णमय बन गई थीं।

श्रीराधातत्त्व

श्रीरामचन्द्रशर्मा एम० ए०, साहित्य-रत्न

करुणावरुणालय भगवान्की कृपा ही समझिये कि संसारको रमनकी भाँति त्याग देनेवाले परम वैराग्यवान् अमलात्मा महात्मा जो आत्माराम हैं, वे भी भगवान्की भक्ति-सुधामें निमग्न रहते हैं। भागवतकारने इसे भगवान्के गुणोंका प्रताप बताया है—

आत्मारामोऽपि मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूत गुणो हरिः॥

कितनी ऊँची स्थितिवालोंकी बात है यह। जिनकी चिज्जड़ ग्रंथि पूर्णतया खुल गयी है, समाप्त हो गई है और जो इतने अंतर्मुखी होगये हैं कि अपनी आत्मामें ही ब्रह्माकारिताका परम आनन्द लेते हैं, उनकी बात है। कामनाका तो यहाँ प्रश्न ही नहीं। ऐसे परम विरागी तो मोक्षकी भी कामना नहीं करते। महाराज भोजने एक ब्रह्मचारीसे प्रार्थनाकी कि भगवन्! आप उपवास व्रतादिके कारण कृश हो रहे हैं, यहीं निवास करें, मैं आपकी व्यवस्था किये देता हूँ। आज्ञा हो तो किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणकी कन्या से आपका विवाह भी करा दूँगा। ब्रह्मचारीने उत्तर दिया कि आप तो ईश्वर ही हैं, आपको क्या असाध्य है, किन्तु हमारी स्थिति तो यह है—

सारङ्गाः सुहृदो गृहं गिरिगुहा शान्तिः प्रिया गेहिनी ,
वृत्तिर्वन्यलताफलैर्निवसनं श्रेष्ठं तरूणां त्वचः ।
तद्ध्यानामृत पूरमग्न मनसां येषामियं निर्वृ ति—
स्तेषामिंदुकलाऽवतंस यमिनां मोक्षेऽपि नो न स्पृहा ।

प्रकृतिकी गोदमें भगवान्का भजन करते हुए हमें जंगली फल प्राप्त हो जाते हैं, वल्कलके वस्त्र प्राप्त हो जाते हैं, पर्वतकन्दराएँ हमारा घर हैं। हमें शांति प्राप्त है, यही हमारी प्रिया है तथा पशु पक्षी हमारे बन्धु बांधव हैं। भगवान्के मंगलमय भजन ध्यान में हम डूबे रहते हैं । अतः हमें तो मोक्षकी भी कामना नहीं।

भगवान्के नाम और रूप ही ऐसे आत्माराम महात्माओंके आश्रय होते हैं। नाम, रूप तथा चरित्रमें लीन रहना ही भक्ति है। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी ने ऐसे कामना रहित पुरुषोंकेलिए कहा है कि भगवन्नामकी वह महिमा है कि सकल कामनाओंसे रहित होकर भी भगवन्नाम प्रेम रूपी अमृत-ह्रदमें ऐसे महापुरुष अपने मनको मछलीकी भाँति डाले रहते हैं—

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन ।
नाम प्रेम पीयूष ह्रद तिन्हहु किये मन मीन ।।

मछलीसे कोई पूछे कि वह पानीमें क्यों पड़ी रहती है तो क्या उत्तर मिलेगा ? वह किसी कामनावश जलमें नहीं पड़ी रहती, उसका तो जीवन है जल । वह जलसे बाहर जीवित नहीं रह सकती। जलमें रहना उसका सहज स्वभाव है । इसी प्रकार इन बीतराग महात्माओंका स्वभाव बन जाता है, भगवन्नाम-रूपका चिन्तन। नाम तथा रूप ईश्वरकी उपाधियां हैं—ईश्वर ही हैं । 'नाम रूप दुइ ईश उपाधी' । भगवन्नाम जप, भगवद्रूप चिन्तन और भगवच्चरित्र-गान एवं उनका चिन्तन ही इन महात्माओंका जीवन है।

भक्तिके रसिकको भक्तिके अतिरिक्त और किसीकी कामना नहीं । उन्हें केवल भक्ति चाहिए। सौन्दर्य-रस-सार-सुधाका प्रभाव ही ऐसा है। श्रीभरतजी भगवान् श्रीरामके पादारविन्द-सुधाके इतने लोभी हैं कि उनके बिना जीवित नहीं रह सकते। भगवान्के वियोग में अवध का राज्य, संसार का समस्त ऐश्वर्य तथा सुख उन्हें शान्ति नहीं दे सका । वे उन्हें वापिस लेनेके लिए वनके लिए चल पड़े। पैरोंमें फफोले पड़ गये, किन्तु भरतजी को सन्तोष नहीं, वे कहते हैं कि उचित तो यह है कि जब मेरे परम प्रेमास्पद श्रीराम नंगे पाँव यहाँ होकर गये हैं तो मैं सिरके बल चलूँ । तीर्थराज प्रयागमें उनकी कामना भी स्पष्ट होगई—

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरवान ।
जनम जनम रति राम पद, यह बरदान न आन ।।

याचना है तो केवल भगवान्‌की भक्ति की। एक जन्मके लिए नहीं, जन्म-जन्मान्तरों में भगवान्‌के पावन मंगलमय पादपद्मकी मकरन्द-गन्ध निरन्तर मिलती रहे। यही उनका जीवन है।

श्रीरूपगोस्वामीजीने कहा है कि भक्तिरसके आगे ब्रह्मानंद भी कुछ नहीं। भक्तिके सामने ब्रह्मानंदका पर्वत छिन्न-भिन्न होजाता है, उड़ जाता है। श्री सनकादि मुनीश्वर निरंतर ब्रह्मानंद में लीन रहा करते थे, किन्तु शेषशायी भगवान् कमल-नयनके चरणारविंद मकरंदसे सिक्त तुलसी- मंजरीके पावनगंधसे सुवासित वायुने नासिकारंध्रोंके द्वारा उनके अन्तःकरणमें प्रवेश किया तो उस समय वे अपने आपको सँभाल न सके। भगवान् तो जव तक इन मुनीश्वरोंके पास पहुँच नहीं पाये, किन्तु वायु द्वारा उनके चरणारविंद चर्चित तुलसीका मकरन्द-गन्ध उनकी नासिका में पहुँचा दिया गया—

तस्यारविंद नयनस्य पदारविन्द–
किञ्जल्क मिश्र तुलसी मकरंद वायुः।
अंतर्गतः स्व विवरेण चकार तेषां–
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्त तन्वोः॥

एक नहीं, अगणित परमहंसोंकी यह स्थिति है। श्रीशुकदेवजी जैसे अवधूत भी इस सौन्दर्य माधुरीका शब्दचित्र सुनकर ही तो हठात् खिंचे गये थे। महाराज जनक तो ब्रह्मानन्दमें इतने लीन रहा करते थे कि उन्हें अपनी देहका भी भान नहीं था। इसी कारण उनका नाम विदेह पड़ गया था। मुनि विश्वामित्रके साथ उन्होंने श्रीराम–लक्ष्मणको देखा और प्रथम–दर्शनमें ही उनके प्रति इतने आकृष्ट हुए कि ब्रह्मानन्दसे भी अधिक आनन्द उनके दर्शनसे प्राप्त होने लगा और उन्होंने विश्वा-मित्र जी से स्पष्ट कह दिया कि ये दोनों बालक कौन हैं ? इन्हें देखकर मेरे भीतर अतिशय अनुरागका उदय हो रहा है और मैं हठात् इनकी ओर खिंच रहा हूं। श्रीगोस्वामी तुलसीदासने मानसमें कितना सुन्दर चित्र खींचा है—

मूरति मधुर मनोहर देखी, भयउ विदेहु विदेहु विसेषी।

प्रेम मगन मनु जानि नृप करि विवेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिर गद्गद् गिरा गँभीर॥

कहहु नाथ सुन्दर दोउ बालक, मुनि कुल तिलक कि नृप कुल पालक।
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा, उभय वेष धरि की सोइ आवा
सहज विराग रूप मनु मोरा, थकित होत जिमि चंद चकोरा।
ताते प्रभु पूछउँ सति भाऊ, कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ।
इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा, बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा।

इस प्रकार ब्रह्मानन्दको फीका करनेवाला श्रीश्यामसुन्दर भगवान्के पावन पादपद्मोंका मकरंद है और भगवदानन्दको फीका करनेवाला श्रीराधातत्त्व है। सारे परमहंस तो श्रीश्यामसुन्दर भगवान्के पीछे बावले बने रहते हैं और श्रीश्यामसुन्दर भगवान् श्रीराधाजीके पीछे। जीव सब कुछ बन सकता है, यहाँ तक कि ब्रह्माका भी बाप बन सकता है, परन्तु भगवान् उसे संसार-व्यापार कार्य कभी नहीं सौंपते। सृष्टिकार्य भगवान् अपनेही हाथमें रखते हैं। ऐसे भगवान् न नारदके कीर्तनमें सदा ठहरते हैं न माता यशोदाकी गोदमें, न श्रीदामा आदि सखाओंकी टोलीमें न बाबा नन्दजीकी गोदमें ही ठहरते हैं, किन्तु नित्यनिकुंजेश्वरी रासरासेश्वरी श्रीराधारानीके पास सदा रहते हैं। आनन्दसुधासिन्धुसे ओतप्रोत श्रीव्रजेश्वरी राधाजी के सौन्दर्य तरङ्गोंमें डुबकी लगाते रहते हुए भी श्रीश्यामसुन्दर अतृप्त ही रहते हैं। सब तो आराधना करते हैं मङ्गलमय भगवान् श्रीश्यामसुन्दरकी और श्रीश्यामसुन्दर भगवान् जिसकी आराधना करते हैं वह है श्रीराधातत्त्व। परम प्रेमास्पद प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके प्राप्त करनेके माध्यमका ही दूसरा नाम है—श्रीराधातत्त्व।

श्रीकृष्ण लीलाका अमृत-पेय

श्रीकृष्ण लीला एक ऐसी अद्भुत शिखरन है, जो चन्द्रमाकी किरणोंसे झरनेवाली सुधा-धाराओंके भी मिठासके गर्वको चूर्ण कर डालती है तथा जो श्रीराधादि प्रेयसी-जनोंके गाढ़ एवं अविचल प्रेमरूपी कर्पूर-कणोंसे सुवासित है। चारों ओर सन्तापका सृजन करनेवाले संसाररूपी ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर चलनेसे उत्पन्न हुई तुम्हारी तृष्णारूपिणी तृषाको वह शान्त करे।

"कृष्ण" यह दो अक्षरोंका नाम जब जिह्वा पर नृत्य करने लगता है, तब ऐसी इच्छा होती है कि हमारे अनेकमुख, अनेक जिह्वायें होजायें। उसके कानोंमें प्रवेश करतेही ऐसी कामना उत्पन्न होजाती है कि हमारे अरबों कान हो जायें। कानों के द्वारा जब यह नाम-सुधा चित्त प्राङ्गणमें आती है, तब समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तियों को हर लेती है। चित्त सब कुछ भूलकर नाम-सुधामें डूब जाता है। क्या जानें, इस सुमधुर नाम-सुधा की सृष्टि कितने प्रकारके अमृतोंसे हुई है।

रे मन! द्रवायमाण सुवर्ण तथा सघन मेघ-समूहकी भांति गौर-नील कान्तियोंसे समग्र वृन्दावनको उद्भासित करनेवाले, नवीन मृदुल नील-पीत पाटाम्बरधारी निभृत निकुञ्जमें विराजमान श्रीराधिका-कृष्णचन्द्रका तू स्मरण कर।

जिन भक्तोंका चित्त श्रीकृष्णके चरणकमलों की सेवासे शांत होगया है, उन्हें मोक्ष की इच्छा कदापि नहीं होती।

श्रीकृष्णके नाम, रूप, चरितादिकोंके कीर्तन और स्मरणमें क्रमसे रसना और मनको लगादे—जिह्वासे श्रीकृष्ण नाम रटता रहे और मनसे उनकी रूप-लीलाओंका स्मरण करता रहे तथा श्रीकृष्णके अनन्य भक्तोंका दास होकर व्रजमें निवास करते हुए अपने जीवन केसम्पूर्ण कालको व्यतीत करे। यही सारे उपदेशोंका सार है। —श्रीरूपगोस्वामी

•••○○•••

विरह मिलनकी भाव सन्धि-होली

'होली' प्रेम, उल्लास और मिलनका अपूर्व पर्व है, इस पर्वावसरपर उधर प्रकृतिके हृदयमें उल्लासका सागर उमड़ पड़ता है, तो इधर भारतीय जीवनमें भी प्रणयका वसंत खिल उठता है। ब्रजकी धरतीमें तो 'होली' के पर्वावसरपर प्रकृति और जीवन के आनन्द का 'साकार' रूप ही देखनेको मिलता है।

ब्रजकी होली पर अष्टछापके कवि

श्रीमती निरुपमादेवी खंडेलवाल

फागुन मास विरह-मिलनका सन्धिकाल है। प्रकृतिमें भी और उसका अनुकरण करने वाले प्रकृति-प्रेमी मानवके जीवनमें भी फागुन विरह-मिलनकी रंग-बिरंगी भावनाएँ उत्पन्न करता है। गुलाल उड़ा, गोपियोंके प्रिय कान्हा कहाँ छिप गए—गोपियोंके हृदयमें गुलाल की तरह लालिमा छागई– उल्लास, उमंग, और विरहकी समाप्तिके बाद मिलनका त्योहार। फागुन आया, आम बौरा गए, कोयल कुहकुह बोलने लगी, प्रकृति रंगसे भर उठी। विरह-मिलनकी यह अपूर्व सन्धि-गुलाल तो पृथ्वीसे आकाश तक छा गया और गोरीका मुख भी तो लाल हो उठा–गुलाल बन गया। ऋतु वसंतका संदेशा देती हुई कोयलिया कूक उठी—

ऐसो पत्रपठायौ ऋतु बसंत।
कागज नवदल अम्बुज पात।

देत कलम मसि भँवर सोगात।
लेखनि काम बानु चढ़े चाप।
लिखि अनंग दिसि दीन्हीं छाप।
मलयानिल वाहक विचारि,
वाचक पिक पढ़ि किय पसार॥

व्रजमें तो होलीकी धूम मच गई—मिलनका उल्लास–फागुनका रंग–गुलाल उड़ा—

होरी आई रे आज व्रजमण्डलमें होरी आई रे।
उड़त गुलाल लाल भये बादर, पिचकारिन छूँछर छाई।
होरी आई रे॥

कृष्ण कन्हैयाने इस उल्लासमें राधाके साथ परस्पर मिलकर फाग खेला। नन्द बाबाके घरमें बधाई बज उठी—

व्रज में हरि होरी मचाई।
इतते आवत उमँगि राधिका उतते कुँवर कन्हाई।
खेलत फाग परस्पर हिलिमिलि सोभा बरनि न जाई।
नन्द घर बजत बधाई हो, व्रज में हरि होरी मचाई॥

अष्टछापके कवि श्रीपरमानन्ददासने राधा-कृष्णकी इस होलीका बड़ा ही सरस एवं सजीव वर्णन किया है—

नंद कुँवर खेलत राधा संग यमुना पुलिन सरस रंग होरी।
नव घनश्याम मनोहर राजत स्याम सुभग तन दामिनी गोरी॥
केसरि के रंग कलस भरे वहु संग सखा हलधरकी जोरी।
हाथन लिये कनक पिचकाई छिरकी व्रजकी नवल किसोरी॥
चारु अबीर उड़ावत नाचत कटिसौं बांधि गुलालकी झोरी।
मगन भई क्रीड़त सब सुन्दरी प्रेम समुद्रतरंग झकोरी॥
बाजत चंग मृदंग अघोटी पटह झाँझ झालर सिर घोरी।
परमानन्द या सुखकों जाचत विमल मुक्तिपद छोरी॥

श्रीकृष्ण-लीलामें 'होरी-लीला' का विशेष महत्व है। भक्त-हृदयको गुलालके रंगमें रंगने वाली 'मोहन-राधाकी होली' अत्यन्त लुभावनी है। इसमें जो सुख है, वह मुक्तिपदमें भी नहीं। अष्टछापी कविवर कृष्णदास लिखते हैं—

खेलत मोहन राधागोरी।
इतहिं गोपिका जुरि-जुरि आईं उतहिं ग्वाल मंडली चाँचरि जोरी॥

पिय प्यारी पर प्यारी पिय पर अबीर गुलालकी डारत झोरी।
'कृष्णदास' बलि जाइ इननि पर स्यामा स्यामकी जोरी॥

गोकुलमें होलीकी उमंगका क्या कहना, कवि कृष्णदास कहते हैं—

गोकुल गाँव सुहावनो सब मिलि खेलें फाग।
मोहन मुरली बजावै गावै गोरी राग॥
नर-नारी एकत व्है आईं नंदराइ दरबार।
बाजें झालरी किन्नरी आवज डफ करतार॥
चोवा अरगजा चंदन अरु कस्तूरी मिलाइ।
बाल-गोविन्दकों छिरकत सोभा बरनी न जाइ॥

होलीमें संगीतका विशेष प्रयोजन है। हृदयकी रागिनी गूँज उठती है, उल्लाससे वातावरण भर जाता है और ब्रजमंडलमें सर्वत्र झाँझ, झालरी बजने लगती है, चाँचरि नृत्य होने लगता है। गोवर्द्धनवासी नवीन वन-कुंजोंमें किलोलकर रहे हैं—

खेलत फाग गोवर्द्धनवासी।
नव-वन, नवल कुंज, नवनागर, नव राधे राजति चपलासी।
कुंज-कुंज द्रुम वेली प्रफुलित करत किलोल नवल ब्रजवासी॥
ब्रजबनिता दरसनकी प्यासी नैननि अमृत पिवत सुधासी।
'कृष्णदास' प्रभु मोहन नागर, ब्रज-जीवनि गोकुल सुखरासी॥

अष्टछापके भक्त कवियोंने भगवान्‌की होलीको माधुरी-लीलाके रूपमें, अत्यन्त सुन्दर एवं पवित्र उल्लासके त्योहारके रूपमें प्रस्तुत किया है। ब्रज-जीवन गोकुलकी सुखराशि कान्हा पृथ्वी और आकाश, विरह और मिलनकी भावसन्धि प्रस्तुत करनेवाले इस रंगारंग उत्सवको भक्तोंको आनन्द देनेके लिए मना रहे हैं—

बन्यौ खेलत फाग सुन्दर नंद को लाला।
बने संग गोपकुमार उदार सने रंग नैन बिसाला॥

उधर बरसानेसे सजकर रंगभीनी ग्वालिनें भी आ रही हैं, बीचमें गोरी राधिका हैं, उनके हृदयमें उमंग है, वे आनन्द सिन्धुमें मग्न हैं, हृदयमें गिरिधरके प्रति अनुराग उमड़ रहा है। सूरदास वर्णन करते हैं—

खेलत फाग ग्वालिनि संग।
एक गावत, एक नाचत, एक करत बहुरंग।
बीन, मुरज, उपंग, मुरली, झाँझ, झालरि, ताल।

व्रजमें तो नित्य उत्सव होते ही रहते हैं किन्तु वसन्तोत्सव और होली दोनों ही उमंगके रंगारंग उत्सव हैं—

उन्मद ग्वाल वदत नहिं काऊ, झेल-खेल रसरेलैं।
कियौ रँगमगौ ललित त्रिभंगी, भयौ ग्वालिनि मन भायौ॥
खेल मच्यौ मनि खचित चौकमें, कवि पै कहा कहि आवै।
'चतुर्भुज प्रभु' गिरधर नागरकों, देखें ही बनि आवै॥

अष्टछापी कुंभनदासने भी व्रजके फागका बड़ा ही सजीव, सरस एवं संगीतमय वर्णन किया है—

जुवतिन संग खेलत फागु हरी।
बालक वृंद करत कोलाहल सुनत न कान परी॥
बाजत ढफ मृदंग बाँसुरी किन्नर सुर कोमलरी।
तिनहूं मिल रसिक नँदनंदन मुरली अधर धरी॥
कुमकुम वारि अरगजा विविध सुगंध मिलायकरी।
पिचकारीन परसपर छिरकत अति आमोदभरी॥
टूटत हार, चीर फाटत गिर, जहाँ-तहाँ टरनि टरी।
काहू नहीं सम्हार क्रीड़ा-रस सब तन सुधि बिसरी॥
अति आनंद मगन नहीं जानत बीतत जाय घरी।
'कुंभनदास' प्रभु गोवर्धन-धर सब सुखदानि वरी॥

अष्टछापी नन्ददासने व्रजमंडलकी होलीका ध्वन्यात्मक वर्णन किया है—

हाँ हाँ निकसे हैं मोहनलाल।
व्रज में खेलन फाग री, रँग हो हो हो रंग होरी।
घुमड़्यो है अबिर गुलाल, मनु उनयो अनुराग री॥

कृष्णभक्त राधावल्लभी ध्रुवदासजीने ठीक ही कहा है—

जिन नहिं समुझ्यौ प्रेमरस तिनसौं कौन अलाप।

जिसके हृदयमें भगवान् कृष्णकी महामाधुरीका प्रेम रस छा रहा है, वही इस फाग-लीलाके उल्लासमें भरकर 'श्यामसंग राधिका की होली' का आनन्द प्राप्त कर सकता है। कृष्ण भक्तिकाव्यमें फाग-लीलाका यह उल्लास सर्वत्र विकीर्ण है। रीतिकालीन कवियों ने व्रजकी इस माधुर्यपूर्ण होलीको भी शृङ्गारी-रंगमें रँगनेका प्रयत्न किया, किन्तु उनके वर्णन में हृदयकी वह तल्लीनता एवं सजीवता नहीं दिखाई पड़ती, जो भक्त कवियोंके वर्णन में है।

भगवान् सर्वव्यापक हैं। अतः प्रत्येक जीव में हैं—प्रत्येक जीवके हैं। जीवके—मनुष्यके अनेकत्वकी भित्ति को ढ़हाकर जो परमात्माको खोजता है, उसीको परमात्माकी प्राप्ति भी होती है। गीता भी यही कहती है और बड़े-बड़े दार्शनिक आचार्य भी। फिर तो यह ठीक ही है—"हरि को भजै जो, हरि का होई।"

हरि को भजै जो, हरिका होई

डा० श्रीजयकिशनप्रसाद खंडेलवाल पी० एच-डी०

एक बार स्वामी विवेकानन्द अमेरिकाके शिकागो नगरके धर्ममहासम्मेलनमें भाषण कर रहे थे। उन्होंने बौद्ध धर्मकी समीक्षा प्रस्तुत करते हुए बताया कि इस धर्ममें भारतका हृदय बसता है। भारतमें शाक्यमुनि गौतम बुद्धको भगवान्का अवतार मानते हैं अतः उनकी आलोचना तो की ही नहीं जा सकती। उन्होंने जिस मानव-धर्मका प्रचार किया, उसका धन्य है। किन्तु बौद्ध धर्मके उद्गमस्थल भारतमें ही सच्चे बौद्ध धर्मका लोप क्यों हो गया ? क्योंकि बौद्ध मतानुयायियोंने अपने महान् प्रवर्तकके उद्देश्यको नहीं समझा, उनके उपदेशके वास्तविक रूपको नहीं समझा। आत्महीन जड़ीभूत बाह्याचारको महत्त्व दिया। वे वेदमें निरूपित भगवान्से टक्कर लेने लगे और चकनाचूर हो गए। यदि वे अपने सेवाधर्मके कार्यक्रममें लगे रहते तो जापान, मलाया, इन्डोनेशिया, वियतनाम, लंकाकी भाँति भारतमें तो और भी उज्ज्वल रूपमें बौद्धधर्म चलता।

भारतीयजन बुद्धि और हृदयका समन्वय महत्त्वपूर्ण मानते हैं। हिन्दू धर्म, जो वेद पर आधारित है, बुद्धि प्रधान है, तो बौद्धधर्म, जो मानवसेवाधर्मपर आश्रित है, हृदयकी

भावनाको विशेष महत्त्व देता है। दोनोंका समन्वय ही तो सर्वकल्याणकारी हो सकता है। जिसे ब्राह्मण धर्म कहते हैं, वह वेदको, ईश्वरीय तत्त्वको प्रधानता देता है। किन्तु इसके भी दो रूप हैं—एक व्यावहारिक कर्मकाण्ड संयुक्त, दूसरा आध्यात्मिक। प्रथम रूपका ग्रहण समाजके गृहस्थ वर्गके लिए है, तो द्वितीय रूपका साधुओंके लिए।

वेदोंमें कर्मकाण्ड–यज्ञानुष्ठानकी बात कही गई है। इनके द्वारा धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी प्राप्ति होती है। किन्तु आध्यात्मिकपक्ष तो साधुओंके लिए है। ब्राह्मण धर्म क्या केवल विरागमूलक निवृत्तिपरक है? नहीं, जहाँ तक कर्मकाण्ड आदि हैं, उसमें सामाजिक व्यवस्था, वर्ण धर्म-व्यवस्था आवश्यक मानी गयी है। शास्त्रीय विधानका पालन सिद्धिके लिए आवश्यक है।

किन्तु अध्यात्म मार्गमें, साधु-मार्गमें वर्ण व्यवस्थाका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। 'नारदभक्ति सूत्र' में कहा है—

नास्ति तेषु जातिविद्यारूप कुलधनक्रियादिभेदः।

भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादि का भेद नहीं है।
शाण्डिल्य भक्तिसूत्रमें में भी कहा है—

आनिन्द्ययोन्यधिक्रियतेपारम्पर्यात् सामान्यवत्।

शास्त्र परम्परासे अहिंसादि सामान्य धर्मोंकी भाँति भक्तिमें भी चाण्डालादि सभी निन्द्य योनितकके मनुष्योंका अधिकार है।

श्रीमद्‌भागवत में तो भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे स्पष्ट कहते हैं—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥

हे उद्धव! संतोंका परमप्रिय 'आत्मा' रूप मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही वशीभूत होता हूँ। मेरी भक्ति जन्मतः चाण्डालोंको भी पवित्र कर देती है।

श्रीगीताजीके नवम् अध्यायमें भी भगवान् अर्जुनको सम्बोधन करते हुए कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरी शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।

यदि ऐसा न होता तो उन्हें पतितपावन, अधम उद्धारक आदि कौन कहता? महात्मा कबीरदासनेभी इसी बातको सरल शब्दोंमें कह दिया—"जाति पाँति पूछै नहिं कोई, हरिको भजै जो हरि का होई।"

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीगीताजीके नवम् अध्यायमें भजन करनेवालोंमें अपना समभाव प्रदर्शित करते हुए कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

सर्वभूतोंमें समान रूपसे व्याप्त भगवान् तो दुराचारीको भी शाश्वत शान्ति प्रदान कर देते हैं। यदि वह उनका भजन करे, तो वह भी साधु है। पिपीलिका पुष्पका सङ्ग करके भगवान् शङ्करके मस्तकपर विराजमान होकर इन्दुमौलिके इन्दुका अमृतपान करती है।

भगवान् दुराचारीको भी शाश्वत शान्ति प्रदानकी घोषणा करते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

यदि कोई दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है और वह—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्तिको प्राप्त होता है।

इस शाश्वत शान्तिको श्रीगीताजीमें कहीं नैष्ठिकी शान्ति कहा है, कहीं निर्वाण परम शान्ति, तो अन्यत्र परमा शान्तिके नामसे सम्बोधित किया है।

स्वामी विवेकानन्दजीने दृष्टान्त एवं प्रमाण देकर सिद्ध किया कि भारतमें अध्यात्म क्षेत्रमें किसी प्रकारकी वर्णव्यवस्था नहीं है। भगवान्के भक्तसे उसका ज्ञान पूछा जाता है, अनुभव जाना जाता है, भक्तिरस प्राप्त किया जाता है। जाति नहीं पूछी जाती। उसकी तो एक ही जाति है—वह तो हरिजन है—'हरिजन सभी, न जाति'। कबीरदासके शब्दोंमें, इसके समान कौन जाति है? धन्य हैं वे भक्त जो भगवद् चरणारविन्दोंमें न्यौछावर हो गए हैं। इसीसे भगवान्ने दुर्वासाजी से कहा है—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् तेन जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

साधु (भक्त) मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा और किसीको नहीं जानते तथा मैं उनको छोड़कर और किसीको किञ्चित् भी नहीं जानता।

'आसक्ति' ही दुःखका मूल है । 'आसक्ति' से ही मनुष्य अपनी राह भूल जाता है । 'आसक्ति' से ही अमृत विष और 'सत्' भी 'असत्' ज्ञात होता है; दूसरे शब्दोंमें आसक्ति ही वह सघन तिमिर है, जिसमें मनुष्य अपना सब कुछ खो बैठता है । अतः त्याग करनेके अर्थमें 'आसक्ति' का ही त्याग करना चाहिए । वास्तविक योगी, यती और मुमुक्षु भी वही है, जो 'आसक्ति' के त्यागमें संलग्न है ।

फलासक्तिका कुफल

श्रीहरिकृष्णदासगुप्त "हरि"

कुछ तो जन्म-जन्मान्तरके संस्कार थे, कुछ संगतकी रंगत चढ़ी । फलतः संसार-सरितामें तिनकेसा न बहकर कुछ उचित ही करने-होनेकेलिए प्रबल रूपसे प्रेरित हुआ ।

स्वयंसे स्फूर्त हुआ । लगेहुओंके साथ रहा । पहुँचेहुओंमें बैठकर उनकी चरण-रज ली, उनका वचनामृत-पान किया । स्फूर्तको माँजा-निखारा । साथ रहनेपर हाथ लगे हुएको सहेज कर रक्खा । सुने हएको डूब-डूबकर गुना; खूब-खूब सोचा-विचारा । परिणामतः जीवनके लक्ष्यको जाना-समझा, उसे निश्चित कर पाया ।

लक्ष्य निश्चितहो चुकनेपर उसकी पूर्ति-हेतु कर्त्तव्य-निर्धारणकी बारी आई । सबको प्यार करूं, सबकी सेवा करूँ, सबका अपना बनूँ, पल-पल, क्षण-क्षण, कण-कणके काम आऊँ, अपने सर्वस्वसे—जीवनका कर्त्तव्य निर्धारित हुआ ।

मंजिल जान ली। राह चुन ली। अबतो चलना ही शेष था। सो चलपड़ा मैं अपने सर्वस्वको पाथेय बनाकर। चला, खूब चला। एक अपूर्व लगनसे भरकर तन, मन, धनसे कर्त्तव्यपालनमें जुट गया—जुटा रहा।

समयके साथ जुटना—जुटे रहना रंग ला रहा था। मंजिल रोज समीप होती लग रही थी। न भी लगती, तो भी कोई बात न थी। चलनेका भी एक अपना रस होता है। उसके रहते······आते ऊब आनेकी कोई सम्भावना नहीं थी और चलते-चलते राहपर, मंजिलको तो कभी न कभी आना ही था। फिर भय-चिन्ता कौन क्यों करता ?

पर खतरा और ही ओर से आया। ज्यों-ज्यों मैं अपनी राह पर आगे बढ़ता गया, मेरे प्यारकी सर्वत्र धूम मचती गई। मेरी सेवा-भावनासे लोग चकित होते गये, मेरे अपनत्वसे जाने-माने अपनोंको भूलने-बिसराने लगे। मेरे बिना भेद-भाव सबके काम आनेसे उनमें कृतज्ञता-विह्वलता बढ़ती गई। परिणाम यह निकला कि जन-जनमें मेरे प्रति अपूर्व श्रद्धा-भक्ति उमड़ी और मुझपर मान-बड़ाईकी वह वर्षा हुई—वह वर्षा हुई कि कुछ पूछो न । बस, यह मान-बड़ाईकी वर्षा ही समस्त आपदा-मूल सिद्ध हुई। इसके रसमें कुछ ऐसी तीव्रता थी, भावुकता थी एवं आकर्षण था कि मैं ले-दे कर इसीमें गड़ाप रहने लगा। कर्त्तव्यपालनका रस एकदम फीका लगने लगा। इसके सामने मंजिलका ध्यान भी भुला दिया उसने। बस, एकमात्र उसकी सूरत रह गई। राह अब इस तरह तय की जाने लगी कि जिसमें अधिकाधिक मान-बड़ाईका रस प्राप्त हो ।

चलता रहा मैं राह पर मान-बड़ाई पा-पाकर एक अजीब नशेके खुमारमें बदमस्त रहते हुए। शीघ्रही मुझमें महान्, किन्तु अवांछनीय परिवर्तन हुआ। मैं कुछ से कुछ होकर रह गया। मान-बड़ाईकी भूल-भुलैयाँमें पड़कर मैं इस-उससे अपनी तुलनाके भी चक्करमें पड़ गया। मेरा चैन बेचैनीमें, शान्ति अशान्ततामें एवं स्थिरता अस्थिरतामें बदल गई। मान-बड़ाईके नाते अपनेसे नीचोंको देखकर गर्वसे फूल-फूलकर मैं गड़गज होने लगा। ऐसे ही ऊपरवालोंको देख-देखकर ईर्ष्या-द्वेषकी ज्वालासे भी रात-दिन जलने लगा।

राहपर चलना भी मेरा विचित्र होगया। पूरा दम्भी-ढोंगी बनकर रह गया मैं। प्यारके लबादेमें मुझसे अप्यारका प्रसार होने लगा। सेवा सुसेवा-कुसेवाका भेद प्रत्यक्ष करने लगी। अपनत्व प्रदान करनेमें नाप-तोल चलने लगी। बिना भेद-भाव काममें आनेमें अपना-परायापन जाग उठा। सर्वाधिक-अपितु कहना चाहिए, सारी मान-बड़ाई मुझे ही मिले—बस, इसे दृष्टितले रखते हुए इसी ढब पर रहकर, इसी ढर्रेपर चलना, मेरा चलना रह गया। वस्तुतः राह-कुराह बनकर रह गई।

अधिक दिन नहीं बीत पाये कि मैं झूठा-कपटी तो कभीका बनही चुका था, पूरा

हिंसक भी बन बैठा। कितनों ही के व्यर्थ एवं अनुचित रक्तपातसे मेरे हाथ रँग गये। किसीके किंचित् भी बाधक प्रतीत होतेही मैंने उसे बींधकर ही छोड़ा। शोषणमें ही मुझे सदैव अपना पोषण सूझने लगा। मेरी करतूतोंसे कितनेही दाने-दानेसे मुहताज एवं बेघरद्वारके होकर जीवित ही मृतक-तुल्य होगये। घर-घर में हाहाकार मचगया। अपनी जानमें सबका कचूमर निकाल, मैं-ही-मैं चमकने-दमकने लगा। यह सब करते हुए एक बार भी तो मुझे ख्याल नहीं आया कि मैं क्या से क्या होगया हूँ। क्या करते-करते क्या करने लगा हूँ—कुछ ऐसा खोया-खोया होगया था मैं।

पर आखिर यह सब कब तक चलता। दिन आया कि जब मैं अपने द्वारा कचूमर निकाले हुओंका बल देखकर हैरत में आ गया, मुझ सिर-चढ़ेको उन्होंने आनन-फानन धरतीपर पैरोंमें पटक दिया। पटकनेपर ही बस नहीं, ठोकरेंपर ठोकरें खिलाकर मेरी हड्डी-पसली एक कर दी गईं। क्षणने गजब गुजार दिये। मान-बड़ाईका शिखर धँसकर धराशायी ही नहीं हुआ, अपितु पाताल तक की भी खबर लाकर और ही रूप हो गया वह मेरे लिए तो। जो मैं औरोंको बनाकर फूला नहीं समाता था, वही मैं स्वयं बनकर रह गया। मेरा सब कुछपन न कुछतामें बदल गया।

× × × ×

ठोकरें ठोकरें जरूर थीं, परन्तु दयामयी एवं करुणापूर्ण थीं। उन्होंने मेरा खुमार उतार धरा। खोया हुआ मैं पुनः अपने में लौटा। कहाँसे कहाँ पहुँच गया था मैं राहसे भटककर—यह देखकर मैं आश्चर्यसे स्तम्भित और पश्चाताप एवं ग्लानिसे गलकर रह गया। मेरी आँखोंसे चोंधारे आँसू बहने लगे। जी में ऐसी आने लगी, जैसे अपना क्या कर डालूँ? सिर पटक-पटककर, पागलसा हो मैं अपनी काया धुनने लगा, मन-बुद्धिको लान-तान करने लगा। मैं 'पन' की, जिसने यह सब कौतुक किये थे—मुझे यह दिन दिखाया था, जान लेनेपर ही उतारू हो गया।

उतारु हुआ ही था मैं—न जाने अपना क्या कर डालनेके लिए कि करुणामयका करुणा-परावार अपनी सम्पूर्ण अपारतामें लहराने लगा······मुझे अपनेमें समाये-समाये।

प्रकट हुए प्रभु मेरे समक्ष, अपना समस्त आधि-व्याधिहारी हाथ मेरे सिर पर फेर कर मुझे स्वस्थ करने लगे। वे हाथ फेरें—इससे पूर्व ही उन्हें देखते ही मैं तो उनके अशरण-शरण चरणोंमें लोटकर लोटनियाँ लेते-लेते फूट-फूटकर रो पड़ा। रोते-रोते मेरी हिचकी बँध गई। मेरी यह दशा देखकर, प्रभु सब सुधि-बुधि बिसार बैठे। उनके कमल-लोचनोंसे अविरल करुणाश्रु-धारा सहज निसृत होकर मुझे स्नेह-स्नान कराने लगी। यह स्नान मुझमें अपूर्व स्वस्थता लाया। शीशपर प्रभुके कर-स्पर्शकी मानो अब आवश्यकता ही न रह गई थी।

स्वस्थ हो लाड़में आता हुआ कुछ क्षण पीछे मैं बोला—

'बड़े बुरे हो प्रभु तुम ! यह क्या किया तुमने मेरे साथ ? मुझे किस जंजालमें फँसा दिया था तुमने ।'

"जंजालमें फँसा दिया मैंने, कह क्या रहा है तू ?"

विलक्षण, रहस्यमयी मुस्कान मुस्कराकर बोले प्रभु । कुछ रुककर, सारल्य-राशि सा गाम्भीर्य धारण करते हुए पुनः कहा उन्होंने :—

"मैंने कुछ नहीं किया तेरे साथ । (पुनः पूर्ववत् मुस्कराकर) किया भी कुछ, तो तेरे हितके लिए ही । (पुनः पूर्ववत् गम्भीर होकर) हाँ, हुआ अवश्य वही, जो फलासक्ति का फल हुआ करता है । प्रभुकी अटपटी, किन्तु मार्मिक वाणी सुनकर सारा रहस्य मेरे समक्ष तत्क्षण पूर्णतया प्रत्यक्ष एवं नितांत स्पष्ट होगया । मानबड़ाईकी सद्य-भोगी विभीषिका एकदम मेरी आँखोंके आगे नाच गई । लरजते-सिहरते एवं कुछ सोचते हुए प्रश्न किया प्रभुसे मैंने :—

"लेकिन प्रभु ! यह फलासक्ति आखिर होती क्यों है ?"

"सहज लक्ष्यसे भटककर, स्वार्थमयताको लुभाते, क्षणिक लुभीले फलोंको ही सर्वस्व समझनेकी भूल करने से । सहज लक्ष्य फल अनासक्त रखता है । स्वार्थमय लक्ष्य फलासक्ति का जन्मदाता है ।" प्रभुने उत्तर दिया ।

"ओह ! अब समझा !" विस्मय-विभोर होते अनायास निकल गया मेरे मुंह से ।

"पर अब समझने-बूझनेको शेष क्या है ? 'मैं'–'तू' की दुई दूरकर एकमात्र निःशेष शेषसे शेष ही एक-रस है अबतो ।"

कहते-कहते प्रभुने मुझे······मुझ चरणोंमें पड़े हुए को उठाकर अपने वक्षःस्थलसे लगा लिया और तब मुझे लगा कि जैसे आनन्द आनन्दमें लहर-लहरकर समा रहा है, समा-समाकर लहर रहा है ।————जीवन-कृतार्थताकी तान सहज गुंजाते ।

•••०◎०•••

'परशुराम' तन मन बसत, हरि जल बिनु बलहीन ।
जब धोवे तब निर्मला, नातर सदा मलीन ॥

'परसा' तब तन निर्मला, लीजै हरि जल धोय ।
हरि सुमिरन बिनु आतमा, निर्मल कभी न होय ॥

—श्री परशुरामदेवाचार्य

मानवजीवनका परम लक्ष्य है 'पूर्णता'–भगवान्‌की प्राप्ति। 'भगवान्‌की प्राप्ति' का अर्थ है भगवान्‌के गुणोंको ग्रहण करके उनके ही सदृश हो जाना, उनके ही सदृश लोक-कल्याणके चित्र बनाना। पर यह कैसे संभव हो सकता है? केवल अनासक्तिसे, लोकहितके लिए कर्म करते हुए स्वयंको उसके फलसे पृथक् रखनेसे।

अनासक्ति-एक संपूर्ण योगदृष्टि

श्रीगुरुदेव त्रिपाठी, प्राध्यापक
बिरला विश्वविद्यालय

गीता एक आकर ग्रन्थ है। आध्यात्मका समग्ररूप एकत्र इस ग्रंथमें एक स्थानपर प्राप्त है, यही इसकी मौलिक विशेषता है। यह कठिनतम कार्य है कि आध्यात्मिक सत्यके विभिन्न स्वरूपोंको एकत्र कर दिया जाए, लेकिन यह कार्य गीताकार द्वारा शक्य हो सका है।

शास्त्रकारोंने कहा है—धर्मके तत्त्व नितान्त गुह्य हैं और गुह्य ज्ञानके अंशका प्रकाशन ही विभिन्न धर्मोंमें विभिन्न रूपोंमें होता है। जो व्यक्ति सत्यके जिस अंशका दर्शन करता है, उसे ही वह सम्पूर्ण सत्यकी परिभाषा देता है, उन अंधोंकी भाँति जो हाथीके विभिन्न अंगोंके स्पर्शके आधारपर हाथीका भिन्न-भिन्न स्वरूप निर्धारण करते हैं। सत्यकी झलक प्रत्येक व्यक्तिको कभी न कभी अपने जीवनमें प्राप्त होती है, चाहे वह क्षणमात्रके लिए ही क्यों न हो! धर्मगुरु लोग स्वयं द्वारा प्राप्त सत्यका ही प्रतिपादन करते हैं। ऐसा देखा

जाता है कि धर्मप्रवर्तकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तोंमें अनेक दृष्टियोंसे साम्य नहीं होता है, लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता है कि एकका कथन सत्य है और दूसरेका असत्य। बात मात्र इतनी ही है कि जिसे जो साक्षात्कार होता है, वह उसे ही सबकुछ मान लेता है।

कुछ इस प्रकारकी ही बात दिव्य ग्रन्थोंके साथ होती है, जिसका अर्थ प्रत्येक अपनी दृष्टि और मान्यताओंके अनुरूप ही करते हैं। गीताशास्त्र उन्हीं दिव्य ग्रन्थोंमें है। अद्वैतवादी आचार्य शंकर जहाँ गीतामें ज्ञान और वैराग्यका प्रतिपादन पाते हैं, वहीं आचार्य रामानुज इस ग्रंथके मुख्य प्रतिपाद्यके रूपमें भक्तिको स्वीकार करते हैं और लोकमान्य तिलक इसे कर्मयोग प्रधान ग्रन्थ मानते हैं; यद्यपि यह आधुनिक दृष्टि है, कारणकि आधुनिक युगकी आवश्यकताओंके अनुरूप कर्मयोग ही पड़ता है।

शंकर, रामानुज और लोकमान्यकी दृष्टियोंको एकत्र समाहित करके महात्मागाँधी ने इसे अनासक्ति योगका प्रतिपाद्य ग्रन्थ माना है। वस्तुतः गांधीजीकी दृष्टिमें तो कुरुक्षेत्र का भौतिक अस्तित्व ही संदिग्ध है। वे महाभारतके युद्धको मानसिक युद्धके रूपमें ही स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि सद्वृत्तियों और दुर्वृत्तियोंका हमारे अन्तःकरणमें सतत् युद्ध चलता रहता है और प्रत्येक व्यक्ति और साधकका शरीर उस युद्धका स्थल है। कौरव और पाण्डवके माध्यमसे उसी मानसिक युद्धका वर्णन है।

व्यक्ति कृष्ण और आध्यात्मिक कृष्ण, दो भिन्न स्वरूप हैं श्रीकृष्णके। व्यक्ति कृष्ण ऐतिहासिक कृष्ण हैं, जो विवादके विषय हो सकते हैं, लेकिन आध्यात्मिक कृष्ण निर्विवाद भावसत्ता हैं, जिनका आध्यात्मिक स्पन्दन प्रत्येक भावनाशील भक्तके हृदयमें तन्मयताके क्षणोंमें होता है। ये आध्यात्मिक कृष्ण ही षोडशकलाधारी पूर्णावतार भगवान् हैं। पूर्णावतार भगवान् कृष्ण अनासक्तिके स्वरूप हैं। अतः अनासक्ति-स्वरूप भगवान्‌की प्राप्तिका मार्गभी अनासक्ति ही है। यही कारण हैकि गांधीजी कहा करते थे–'हमें भगवान् की प्राप्ति नहीं करनी है, बल्कि भगवान् बनना है और जब तक मनुष्य भगवान् नहीं बन जाता है, तब तक उसे शान्ति नहीं प्राप्त होती है।'

अनासक्तिके सम्बन्धमें सामान्य धारणा है– लौकिक कर्मोंका त्याग, लेकिन यह मान्यता निष्क्रियता और अकर्मण्यताको जन्म देती है। वस्तुतः अनासक्तिसे तात्पर्य होता है-कर्मफलका त्याग। कर्म तो मनुष्यका स्वाभाविक धर्म है, वह बिना कर्म किए एक क्षणभी नहीं रह सकता है। अतः कर्मत्यागकी चर्चा ही अवैज्ञानिक है। कर्मफल त्यागकी चर्चा समीचीन है, कारण कि गीताकार भगवान् कृष्ण स्वयं महाभारत युद्धके सर्वाधिक सक्रिय तत्त्व होकर भी अनासक्त हैं।

बुद्धि, इच्छा और भाव हमारी चेतनसत्ताकी प्रवृत्तियाँ हैं. ऐसा मनोविज्ञान स्वीकार करता है। इन प्रवृत्तियोंको निर्मूल करने के उपरान्त शुद्ध चैतन्यसत्ता ही शेष रह जाती है और उसे ही आत्मोपलब्धि कहते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि इन प्रवृत्तियोंको निर्मूल कैसे करें और निर्मूल करनेके विहित मार्ग कौन से हैं ? इसका संक्षिप्त उत्तर यही है कि ज्ञानमार्गके द्वारा बुद्धितत्व, कर्ममार्गके द्वारा इच्छा तत्व,और भक्तिमार्गके द्वारा भावतत्वकी प्रवृत्तियोंको निर्मूल करनेका विहित और उत्तम मार्ग है। यहाँ पर यह प्रश्न भी उठ सकता है कि क्या एक मार्गकी सिद्धिसे ही पूर्णता प्राप्त हो सकती है ? प्रश्न गम्भीर और विचारणीय है। इतना स्पष्ट है कि एक मार्ग तो मात्र एक ही प्रवृत्तिके शमनमें सक्षम है, शेष दो प्रवृत्तियोंकेलिए तो शेष दो मार्गोंका अवलम्ब भी आवश्यक है। मात्र एक मार्गपर चलना पूर्ण योग नहीं है, बल्कि सबकी एकत्र साधना आवश्यक है। मात्र एक मार्गपर चलना पूर्ण योग नहीं है। देखा भी गया है कि एकान्त भक्त गलदश्रुभावुक होता है, ज्ञानीशुष्क और कर्मयोगी बहुधन्धी। यही कारण है कि एक साधकको पूर्णता प्राप्ति केलिए सबको एकत्र साधना आवश्यक होता है। यह भी सत्य है कि लगभग सभी महान् साधकोंमें इन तीनों योगोंका एकत्र समन्वय मिलता है।

मात्र एक मार्गके अवलम्बनसे एकाङ्गी अनासक्ति सिद्ध होती है। पूर्ण अनासक्ति की प्राप्ति तो योगत्रय (ज्ञान, भक्ति और कर्म) की समवेत साधनाके पश्चात् ही सम्भव है। पूर्ण अनासक्ति ही मुक्तिका मार्ग है और पूर्ण अनासक्ति प्राप्त पुरुष ही मुक्त पुरुषकी संज्ञा प्राप्त करता है।

यह स्पष्ट हो गया कि अनासक्ति हमारा लक्ष्य है,लेकिन इसको प्राप्त करनेके लिए अनासक्तिके ही मार्गका आलम्बन ग्रहण करना पड़ता है, यह एक विचित्र स्थिति है। इस सन्दर्भमें ज्ञानका तात्पर्य होता है वैचारिक अनासक्तिका मार्ग, भक्तियोग भावनात्मक अनासक्तिकी साधनाका पथ है और कर्मयोग विषय (स्थूल) सम्बन्धी अनासक्तिकी प्रक्रिया है।

गीताकारकी अनासक्तिका स्वरूप लौकिक अनासक्तिकी धारणा और कल्पनासे नितांत भिन्न है। लोकमें मान्य धारणाके अनुसार सांसारिक विषयोंसे परे हो जानेकी स्थिति ही अनासक्ति है अर्थात् विषयोंसे सम्बन्ध विच्छेद कर लेना। लेकिन गीता इस अनासक्तिको स्वीकार नहीं करती। गीताके अनुसार संसारमें रहकर सांसारिक विषयोंसे परे रहनेकी कला ही अनासक्ति है। स्वयं भगवान् कृष्ण इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। जैसा कि प्रारम्भमें ही कहा गया है कि महाभारतकी कल्पना एकमात्र रूपक भी हो सकती है, पर है नहीं। अतः उस रूपकके अनुसार यह स्पष्ट है कि इस विनाश लीला-महाभारत (संसार) के बीच रहते हुए भी कृष्ण अनासक्त हैं। विजय-पराजय, मानापमान के द्वन्द्वसे परे एक दिव्य स्थिति है-श्रीकृष्ण भगवान्-कृष्णके सम्बन्धमें एक अन्य आख्यान भी है कि एक बार उन्होंने गोपियोंसे कह दिया कि यमुनाजी तुम्हें उस पार जानेकेलिए

मार्ग इस सत्यवचन के कथनके पश्चात् दे सकती हैं 'यदि श्रीकृष्णबालब्रह्मचारी हैं तो मार्ग मिल जाए'। यद्यपि गोपियोंको विश्वास नहीं हुआ, कारण कि उन्हें तो भ्रम था कृष्ण गोपिकाबिहारी हैं, यह संभव कैसे हो सकता है ! जब घटना सत्य हो गई तो उनका भ्रम भी निरसित हो गया। कहनेका तात्पर्य भोगमें योग और आसक्तिमें अनासक्तिकी प्रक्रियाके सहज स्वरूप थे—योगेश्वर हरि श्रीकृष्ण।

अनासक्तियोगमें दो शब्द हैं—एक अनासक्ति और दूसरा योग। अनासक्ति निषेधात्मक पद है और योग विधेयात्माक। अनासक्तिके द्वारा विषयोंके प्रति निषेधकी ओर सकेत है। लेकिन मात्र अस्वीकृतिसे योजना पूर्ण नहीं होती, उसकेलिए कुछकी स्वीकृति भी आवश्यक होती है। कुछ (अनावश्यक) के ध्वंसकी तो आवश्यकता निर्विवाद है, लेकिन मात्र यही प्रक्रिया पूर्ण नहीं है, कारण कि जीर्णके ध्वंसकी भूमिकापर नवनिर्माण ही उसकी पूर्णता है। सांसारिक विषयोंके ध्वंसके पश्चात् भागवत् कृपाका निर्माण भी आवश्यक है। एक स्थानसे पौधेको उखाड़ना एक क्रिया है और उसे अन्यत्र रोपना दूसरी और अत्यन्त आवश्यक प्रक्रिया है। गीता यही कहती है कि चित्तको संसारसे निकाल लो और उसे फिर भगवान्के साथ जोड़ दो। संसारसे चित्त विलग करनेकी क्रिया निवृति मार्ग है और भगवान्में जोड़नेकी क्रिया प्रवृत्ति मार्ग है अथवा प्रपत्ति मार्ग। साधनाकी यह स्थिति ही पूर्ण साधना दिशा है। इसी स्थितिकी अभिव्यक्ति संत बुल्लेशाहने सहज भाषामें की है—

बुलया रबदा की पाणा,
इत्थे पुटके उत्थे लाणा।

•••○❁○•••

रामनाम

'रामनाम' उन लोगोंकेलिए नहीं है, जो ईश्वरको हर तरह से फुसलाना चाहते हैं और हमेशा अपनी रक्षाकी आशा उससे लगाये रहते हैं।'

'स्वप्न में व्रतभंग हुआ तो उसका प्रायश्चित्त सामान्यतः अधिक सावधानी और जागृति आते ही रामनाम है।'

'विकारी विचारसे बचनेका एक अमोघ उपाय रामनाम है।'

'कोई भी व्याधि हो, यदि मनुष्य हृदय से रामनाम ले तो व्याधि नष्ट होनी चाहिये। रामनाम अर्थात् ईश्वर, खुदा, अल्लाह, गाड।'

'रामनाम पोथीका बेंगन नहीं, वह तो अनुभवकी प्रसादी है। जिसने उसका अनुभव किया है, वही वह दवा दे सकता है, दूसरा नहीं।' महात्मा गांधी

❋

'माया' के चमत्कारिक प्रभावका मार्मिक चित्र

लोभ, मोह, ईर्षा, मत्सर, क्रोध और छलना 'माया' के ही अर्थवाची शब्द हैं। जीवन और जगत्-दोनोंके ही प्रपंचों और विग्रहोंके मूलमें इन्हींकी प्रेरणा रहती है। लौकिक या पारलौकिक शान्तिके बाधक यही हैं—इन्हींका चमत्कारिक प्रभाव है। यदि हम सुख-शान्ति चाहते हैं, तो हमें अपनी संपूर्ण शक्ति इनके प्रभावको कम करनेकी ओर लगानी पड़ेगी।

माया ठगिनि तुम्हें मैं जानी

श्रीकृष्णदास कपूर

हे अहंबुद्धिरूपिणी माया देवी ! तुझे बार-बार नमस्कार है। तेरी ही प्रेरणाके कारण जीवमात्र इधर-उधर भटकता रहता है। ममता और मोहकी तो तू जननी है। तू ही प्राणीकी उत्पत्ति कराती है और तू ही संहार भी कराती है। काम, क्रोध, मद और लोभ—सभी तेरे वशीभूत हैं। वस्तुतः निरुक्तकार ज्ञान ही माया है, जिसका स्पष्ट कार्य है विद्यमानको छिपाना। प्राणधारियोंमें सबसे बुद्धिमान् समझा जानेवाला मानव तो सबसे अधिक तेरे फन्देमें रहता है। तुझमें ऐसी अलौकिक शक्ति है कि उसे ऐसे भ्रममें तू डाल देती है कि वह रस्सीको साँप और साँपको रस्सी समझने की मूर्खता करनेके लिए विवशसा हो जाता है। वह आत्मा और परमात्मा-दोनोंकी सुधि-बुधि खोकर तेरे पार्श्वमें ऐसा आलिंगित रहता है कि वह यह पूर्णरूपसे विस्मरण कर बैठता है कि उसकी आत्मा असंग, अकर्त्ता, अभोक्त और चैतन्य-स्वरूप है तथा वह यह कल्पना भी करनेकी तिलांजलि कर देता है कि केवल 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्मरूप है।' तेरे ही कारण वह बिसार

देता है कि जो यहाँ आया है, वह जायगा और जो जन्मा है, वह मरेगा तथा जिन-जिन पदार्थों का स्वामी वह आज अपने को समझता है, वे सब केवल कुछ कालके लिये ही हैं—

"करें जुदाईका किस-किसका रञ्ज हम ए ज़ौक।
कि होने वाले हैं सब हमसे अनकरीब जुदा॥"

ज़ौक कहते हैं कि किन-किन वस्तुओंके विछोहपर संताप किया जाये ? शीघ्र ही सभी हमसे जुदा हो जायेंगे। दैवने आज जो हमें दिया है, कल हमसे वह निश्चय ही छिन जायगा। परन्तु मानव सदा इसी चिन्ता सागरमें डूबा रहता है कि यह मेरी सन्तान है, यह मेरा नर्तन है और यह मेरी अधिकार-प्रभुता है। अपने ज़र-जोरू और ज़मीनपर वह सदा ही निछावरसा रहता है। सोने और चाँदीके टुकड़ोंमें ही लवलीन रह कर वह अपना लोक-परलोक स्वयं अपने हाथोंसे बिगाड़ लेता है—रमाकी खोजसे उसे अवकाश ही कहाँ ? पर क्या धातुके टुकड़ोंसे उसे जीवनके पश्चात् की कौन कहे, इस जीवनमें भी शान्ति मिलती है ? पाश्चात्य विद्वान् वेंजामिन फ्रेंकलिन कहते हैं कि "धनने आज तक किसीको सुखी नहीं किया और करेगा भी नहीं। इसकी प्रकृतिमें ऐसी कोई बात नहीं, जिससे कि सुख उत्पन्न हो सके। वह जितनाही मनुष्यके पास होता है, उतना ही वह और चाहता है।" अमेरिकाके कुवेरपति हेनरी फोर्ड भी अपने अनुभवका इस भाँति चित्रण करते हैं—"करोड़पति होने पर भी मुझे सुख नहीं है। जब मैं अपने लम्बे-चौड़े कारखानेमें ग़रीब मजदूरोंको बिना स्वादके भोजन उत्सुकता और प्रसन्नताके साथ करते देखता हूँ, तो उनसे मुझे ईर्षा होती है। तब मेरा जी चाहता है कि मैं कोट्याधीश होनेकी अपेक्षा एक साधारण मनुष्य होता।" अतएव हे अनादि अविद्यारूप देवमाया ! तू अलौकिक, त्रिगुणमयी, अद्भुत और बड़ी दुस्तर है, किन्तु यह होते हुए भी जो मनुष्य तेरा उलंघन कर जाता है, वह निश्चय ही भवसागरसे पार भी होजाता है। तेरी मादकताके ही वशीभूत होकर अधिकांश व्यक्ति हतबुद्धि होकर यह विचार तक करना तज देते हैं कि यथार्थमें वे अति दुर्बल ही हैं। अपनी अन्तिम स्थिति-वृद्धावस्थामें पहुँच कर भी और कालके निकट आ जानेपर भी वे तुम्हारे तृष्णारूपी जालमें उलझे ही रहते हैं और तड़प-तड़प कर अपनी जान देते रहते हैं। किसी ने कहा है—

"पेट पसार दियो जित ही तित,
तै यह भूख किती इक थापी।
ओर न छोर कहूँ नहिं आवत,
मैं बहु भाँति भलीविधि मापी।
देखत देह भयो सब जीरन,
तू नित नूतन आहि अघापी।

"सुन्दर" तेहि सदा समुझावत,
हे तृष्णा! अजहूं नहिं धापी॥"

प्रायः प्राकृतिक अवधि अर्थात् वृद्धावस्थाके आगमनपर मनुष्यमें स्वतः जीवनेच्छाका ह्रास होने लगता है और वह स्थायी शान्तिकी कामना करने लगता है। जिस प्रकार सिनेमा-थियेटर देखनेके पश्चात् विश्राम करनेकी इच्छा होने लगती है, उसी प्रकार लम्बी आयुतक जीवन-नाटक देखते-देखते उसे थकान मालूम होने लगती है और उसके मनमें मृत्यु (चिर-शान्ति) की इच्छा होने लगती है, किन्तु फिर भी हे मायादेवी! तुम्हारी रची हुई तृष्णा उसकी बुद्धिको यदाकदा तब तक भ्रष्ट करती रहती है, जब तक कि उसे चिर-शान्ति पूर्णरूपसे प्राप्त नहीं हो जाती अर्थात् उसकी मृत्यु नहीं हो जाती। आत्म-तत्त्वदर्शकोंके अतिरिक्त निपट मूर्ख भी इस संसारमें सुखमें हैं, क्योंकि आत्मतत्त्वदर्शी तो गीताके अनुसार दुःख-सुख और पाप-पुण्यमें भेद-भाव ही नहीं मानते—

"येहि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यंतवंतः कौंतेय न तेषु रमते बुधः॥"

शोक और कष्टोंका मूल कारण विषयभोग है। इनके द्वारा प्राप्त सुख नाशवान् हैं; बुद्धिमान पुरुष ऐसे सुखोंकी ओर से उदासीन रहते हैं तथा उसमें रमते ही नहीं।

उधर मूर्ख तो मूर्ख हैं ही। वे यही नहीं जानते कि सद्गुण ज्ञान है और दुर्गुण अज्ञान। उन्हें अच्छे-बुरेका ज्ञान ही कहाँ?—'सबसे भले वे मूढ़ जिन्हें न व्यापे जगत गति।' परेशान और चिन्तित तो रहते हैं मध्यवर्ती पुरुष। बेचारे मायाके चक्रमें भटक-भटक कर रह जाते हैं। मोहके कारण दुःख-सुख उठाते हुए इस माया-नागिनिसे पिण्ड छुड़ाना भी चाहते हैं, परन्तु असमर्थ ही रहते हैं और न अपने जीवनमें शान्तिके दर्शन कर पाते हैं और न शान्तिरूप भगवान्‌के ही। वे बेचारे त्रिशङ्कुके समान अधरमें लटकते रहते हैं। माया! तू ही बेचारे मानवको जर्जर कर देती है, जिससे वह अपने ही मन पर अधिकार नहीं प्राप्तकर पाता और स्वयं ही अपने ज्ञानका भक्षक बन जाता है। उसका मन उसके शरीरको इधर-उधर भटकनेको विवश करता है और परमात्मासे लगन लगानेमें भाँति-भाँतिके विघ्न उपस्थित करता रहता है। अन्ततोगत्वा वह पापात्मा बनकर अपने परमपिताका साक्षात्कार करनेमें असमर्थ ही रहता है। तुम्हारे ही स्वामी श्रीकृष्ण भगवान् अपने मुखारविन्दसे कहते हैं—

"न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाप्रपद्यते नराधमः।
माययापहृतज्ञाना असुरं भावमाश्रिताः॥"

मूढ़, कुकर्मी, अधमनर परमात्माको कभी नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि मायाद्वारा उनका ज्ञान हरण हो जाता है और उनमें असुरभाव प्रगट हो जाता है।

हे माया! तेरा कुठाराघात सर्वप्रथम चेतन जीवके मनपर ही होता है, तभी तो उसकी दशा शोचनीय हो जाती है। देखो—

मन-पंक्षी जब लगि उड़े, विषय-वासना माँहि।
ज्ञान-बाज की झपट में, जब लगि आया नांहि॥
मनके बहुतं रंग हैं, छिन-छिन मध्ये होय।
एक रंग में जो रहे, देखा बिरला कोय॥
जेती लहर समुद्र की, तेती मन की दौर।
सहजै हीरा ऊपजै, जो मन आवे ठौर॥
मन के मते न चालिये, मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार हैं, ते कोइ साधू एक॥

यद्यपि हम मनुष्योंकी अन्तरात्मायें हमें स्वच्छ मार्ग प्रदर्शित करती रहती हैं, तथा विषयोंसे दूर रहनेके लिए चेतावनी देती रहती हैं, परन्तु हे देवमाया! तुम्हारे ही कारण हम तृष्णा और विषयोंमें निरन्तर फँसते ही रहते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जैसी महान् आत्माको भी निराश होकर कहना ही पड़ा कि—

"जानत अर्थ अनर्थरूप, तमकूप परब यहि लागे।
तदपि न तजत श्वान अज खर ज्यों, फिरत विषय अनुरागे॥

यह मुझे विदित है कि इन्द्रियोंके विषय-भोग अनर्थपूर्ण एवं मिथ्या हैं और इन्हींके कारण अज्ञानरूपी अँधेरे कुएँमें गिर भी जाते हैं, फिर भी मैं कुत्ते, बकरे और गधेके समान इन विषय-वासनाओंमें लिप्त हो इधर-उधर भटकता ही रहता हूँ।

अतएव हे महामाया! यदि हम मनुष्य-जन तुम्हें गर्विणी, पापिनी तथा विषैली नागिनी कहें तो अनुपयुक्त न होगा। तुमने हमारे संसारमें विषके स्थानमें आज तक कभी अमृत भी बोया है? तुम्हीं हम सबको विपत्तिसागरमें गोते खिलाती रहती हो। यदि तुम न होतीं तो हम सब अपने परमपिताका विस्मरण ही क्यों करते और विविध प्रकारके उलझनोंमें क्योंकर पड़ते? तुम्हीं हमारे संसारको डसती रहती हो। तुम्हारे विषैले मद्यमें हम आपसमें ही भाई-भाई तक का गला काटनेमें नहीं लजाते। गुण-भेदके बन्धनोंमें जकड़े तथा विभिन्नताकी समस्याओंमें उलझे होनेके कारण हमें वस्तु-वस्तु में प्रेममय सौन्दर्य दृष्टिगोचर ही नहीं होने पाता। हम मदान्ध होकर भयानकसे भयानक अणुबम सदृश अस्त्रों-शस्त्रोंका निर्माण अपनी ही योनिके जीवोंके संहारके लिये करते रहते हैं—केवल अपनी

राक्षसी पिपासाओंकी शान्तिके लिये। तुम्हारे ही कारण हमारी तात्कालिक समस्यायें भी दिन प्रतिदिन सुलझनेके स्थान पर उलझती ही जा रही हैं। तुम्हीं हमें उन प्यासे मृगोंके समान बना डालती हो, जो मरुभूमिमें एक-एक बूँद जलको प्राप्त करनेके लिये चेष्टा करते हुए तड़प-तड़पकर अपने जीवनका बलिदान करते रहते हैं। ऐसे अधःपतन और संकटोंको देख-देखकर भी तुम हम लोगोंकी मूर्खता पर हँसा ही करती हो। अतएव स्वयं तुम्हीं निर्णय करो कि हम तुम्हें अपना शत्रु मानें या मित्र। परन्तु साथ ही साथ यह भी न भूलो कि हम सभी गँवार नहीं हैं। हममें से कुछ ऐसे भी हैं, जिन्होंने तुम्हारे इन्द्रजालोंको समझ लिया है। ऐसे लोग तुम्हारे जालमें नहीं फँस सकते। वे तुम्हारे चक्रव्यूहको लाँघकर तुम्हारे स्वामी स्वयं मायापतिके सन्निकट पहुँच जाते हैं और फिर तुम ऐसे नर-रत्नोंका मुँह ही ताकती रह जाती हो, तुम्हारी मायावी डोरियाँ उन्हें बन्दरोंकी भाँति नचानेमें असमर्थ होजाती हैं। हम इस बातसे भी पूर्ण परिचित हैं कि तुम जगतारण हरिकी शक्ति हो और वे तुम्हारे द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी सृष्टि, पालन और संहार करते हैं; परन्तु वही भक्तवत्सल भगवान् मननशील एवं धीरभावसे आत्मचिन्तन करनेवाले पुरुषपर अपनी अलौकिक दया प्रदान कर नित्यसिद्धि विद्या और आत्मज्ञानका वरदान भी देते रहते हैं, जिससे वे परमज्ञानी तुम्हारी सम्पूर्ण अवस्थाओंको निष्क्रिय कर अपने कर्मोंमें निरासक्त रह कर अपनी प्रवृत्तियोंको शान्तकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं, फिर तुम्हारा और ऐसे पवित्र जीवों का कोई सरोकार रह ही नहीं जाता।

माया पंचकम् से

मैं उपमा रहित, नित्य, निरवयव, अखण्ड, चिन्मय तथा सब प्रकारके विकल्प आदि से रहित हूँ, तो भी माया मुझमें जीव-ईश्वरभेदकी कल्पना कर देती है। अहो, यह अघटित घटना संघटित करनेमें अत्यन्त पटु है।

अहा! हा! जो सैकड़ों मुनियों और वेदान्त-वाक्योंके शोधक हैं, उन्हें भी माया धन आदिका लोभ दिखाकर तुरन्त इतना कलुषित कर देती है कि उनमें और पशु आदि में कोई अन्तर नहीं रह जाता। अहो! वह कैसी अघटित घटना पटीयसी है।

जो सुख रूप, चिन्मय, अखण्ड, बोध रूप और अद्वितीय है, उसे भी आकाश और अग्नि आदि द्वारा निर्मित तथा सागरके समान विस्तृत संसार रूप चक्रमें डालकर जो निरन्तर भटकाती रहती है, वह माया अघटित घटनाको भी संघटित करनेमें अत्यन्त पटु है।

जो गुण, वर्ण और जातिके भेदसे रहित चिदानन्द स्वरूप है, उसमें भी माया ब्राह्मण, वैश्य आदि का अभिमान भरकर स्त्री-पुत्र-गेह विषयक मोह उत्पन्न कर देती है। अहो! यह कैसी असंभवको भी संभव कर दिखानेमें कुशल है।

अखण्ड परमात्मामें ब्रह्मा, विष्णु और शिव—इन भेदोंकी रचना करके विद्वानोंके हृदयमें भी हरि-हर विषयक भेदकी भावना सुदृढ़कर माया उन सबको मनमाने रूपमें नचाती है। अहो! यह अघटित घटनाके निर्माणमें कितनी पटु है!

मानवजीवन बड़ा अद्भुत है, बड़ा विचित्र है। कभी-कभी जीवनमें सब कुछ होते हुए भी संसारकी ओरसे कुछ नहीं मिलता। 'कर्ण' जीवनके वैचित्र्यका एक 'प्रतीक' है। पर साथ ही है वह 'पुरुषार्थ'का ज्वलन्त चित्र। परम्पराओंके रज्जुमें बँधे हुए संसारने उसे ठोकरें पर ठोकरें लगाईं, पर क्या उसके पुरुषार्थका मस्तक झुका? जीवनका अमर चिन्ह बनाने वालोंको कर्णको ही आदर्श गुरु बनाना चाहिए।

स्वर्णपुरुष-कर्ण

श्रीगोविन्द शास्त्री एम० ए०, सा० र०

महाभारतका युद्ध, धर्मयुद्धके रूपमें प्रारम्भ हुआ, पर उत्तरार्धमें वह युद्ध मात्र रह गया। ऐसा युद्ध, जिसमें केवल विनाश है, जो केवल विजय लिप्सासे लड़ा जाता है। ऐसे युद्धकी मानमर्यादायें नहीं होतीं, नियम सिद्धान्त नहीं होते, वह तो बस युद्ध होता है, विजयोन्मुख विनाश। दुर्योधनने अपने सैन्य और बाहुबलको तोलकर दर्पघोष किया था और पाण्डवोंने न्यायकी रक्षाकेलिये अस्त्र उठाये थे। इस युद्धका विधान और परिणाम-दोनों ही 'समत्व बोध'के रूपमें श्रीकृष्णने अर्जुनको समझा दिये थे। यद्यपि युद्धकी सामान्य परम्परायें सभी योद्धाओंको ज्ञात थीं, पर वे अन्त तक पालनीय नहीं रहीं। पार्थसारथिकी युक्तियाँ और परन्तप सव्यसाचीका लाघव ऐसा अजेय सम्मिश्रण था, जिसके सामने कौरवोंकी अतुलवाहिनी भी खण्ड-खण्ड हो गई। कौरव-शिविरमें हताशा व्याप गई और सारा कुरुक्षेत्र क्षत-विक्षत शवोंसे अट गया। जिधर देखो, उधर विनाशका ताण्डव। योद्धाओंके

रथ लाशोंपर से ही गुजरते। यह युद्ध विश्वयुद्ध नहीं, युग युद्ध था; जिसमें एक इतिहास सम्पूर्णतः समाप्त हो जाना था। कदाचित् भारतभूमिपर ऐसा प्रथम और अन्तिम युद्ध लड़ा गया था, क्योंकि राम-रावण युद्ध लंकामें त्रिकूटपर्वतपर लड़ा गया, इसलिये भारतभूमिने ऐसा विनाश-ताण्डव निश्चयसे नहीं देखा था। कृष्णने इस युद्धको अवश्यंभावी मानकर रथ की लगामके रूपमें युद्धकी बागडोर सँभाली थी।

इस सारे युद्धमें वैसे तो स्वनामधन्य योद्धा थे, अप्रतिम धनुर्धर थे, पर एक अभिशप्त किन्तु सिद्धान्तपुरुष भी था, वह था 'कर्ण'। कर्णको इतिहासने दानवीरके रूपमें प्रतिष्ठित किया है, पर उसका यह दान अपनी कुण्ठाकी प्रतिक्रिया थी या उसने जीवनमें जिन कष्टों को भोगा था, उनकी विभीषिकाओंसे संत्रस्त होकर वह याचकके साथ मानवीय संवेदन-शीलतासे अभिभूत हो जाता था—यह तो वही महापुरुष जाने। अभिजात होकर भी वह पदे-पदे अपमानित होता रहा। वह पुरुषार्थको पूजता था और परम्परायें कुलीनताको पूजती थीं। यह संघर्ष उसने जन्मभर सहा, इस सामाजिक मान्यताका अतिक्रमण उसने अन्तिम श्वास तक करनेकी चेष्टाकी। आजका कुण्ठित कर्ण भी, रुढ़िवद्ध समाजके रूपमें उन्हीं विग-लित हो रही मान्यताओंसे संघर्ष कर रहा है और वंशपरंपराको भूलकर वह व्यक्तिका मूल्यांकन करनेकी कोशिश कर रहा है, पर उसकी आहुति अभी सफल नहीं हो रही है। कर्ण-सा महाप्राण तो है वह, पर कृष्ण-सा महिम नहीं है। कृष्ण भी अपने व्यक्तित्वके बल पर ही पुजे, कुल और पूर्व पुरुषोंके नामपर पुजनेकी चेष्टा नहीं की और उसके बाद उन्हींके वंशधर कृष्णके नामपर ही प्रतिष्ठाके भाजन न मान लिये जाँय—यह सोचकर अपने कुलका विनाश अपने ही सामने कर दिया। एक अर्थमें यह स्पष्ट है कि कृष्ण के जीवनमें व्यक्तिको वंश परम्परासे अलग रखकर देखनेकी परम्परा प्रतिष्ठित नहीं हो सकी इसीलिये यदुकुलका विनाश अनिवार्य बन गया था। यह बात कृष्णकेलिये प्रिय हो सकती थी, किन्तु यह उनका लक्ष्य नहीं बन सकी, इसलिये यह रूढ़ धारणा जीवित रही।

कर्णने दान देकर जो इतिहास बनाया, वह प्रदर्शन (प्रतिक्रिया भले हो) तो निश्चित् रूपसे नहीं था। वे समझते थे कि संसारको परिग्रहकी नहीं, उत्सर्गकी आवश्य-कता है और इसी व्यवहार दर्शनके कारण उन्होंने कृष्णका वह आमन्त्रण ठुकरा दिया, जो उनको सत्ताधीश बनानेके रूपमें था। कृष्णके पराक्रमसे वे परिचित थे और कृष्णके सहारे से वे सम्राट् बन भी सकते थे, पर सिद्धान्तोंका विक्रय उन्हें किसीभी मूल्य पर स्वीकार नहीं था। दुर्योधनने उनके साथ वहुत बड़ा उपकार किया था,जिस समय शेष समाज उनको दुत्कार रहा था,उस समय दुर्योधनने ही उनको सम्मान दिया थाकिंतु महाभारतमें दुर्योधनका साथ उन्होंने प्रत्युपकारकी दृष्टिसे नहीं, सत्यके पक्षधर होनेकेकारण दिया। उस युगमें राजा का पुत्र ही राजा माना जाता था और कर्ण इस परम्पराका सम्मान करते थे। वस्तुतः धृतराष्ट्र सम्राट् थे। वे वन गमनके समय पाण्डुको राज्यभार सौंप गये और कालान्तरमें उन्होंने फिर अपना राज्य ले लिया, इसलिए साम्राज्यपर वास्तविक अधिकार दुर्योधनका ही था— यही पक्ष कर्णको (महाभारतमें) कौरव शिविरमें लेगया।

महाभारत पढ़नेवाले जानते हैं कि भीष्मपितामहके ही समान अनुपम युद्ध करनेवाला और पाण्डव पक्षका व्यापक संहार करनेवाला केवल कर्ण था। उसकी शरवृष्टिके सामने पाण्डवदलका कौनसा ऐसा वीर था, जो टिक पाता, पर यह थी उन वासुदेवकी छत्र-छाया, अन्यथा वेचारा अर्जुन कहाँ टिक पाता ? कर्णके पराक्रमकी कृष्ण भी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते थे। युद्धमें जब अर्जुनके बाणसे कर्णका रथ गजों पीछे खिसकता तो कृष्ण मौन रहते, पर कर्णके बाणसे जब अर्जुनका थोड़ा भी रथ पीछे हटता तो कृष्ण कर्णको साधुवाद देते। अर्जुनको यह बुरा लगा और म्लानस्वरमें उन्होंने यशोदानन्दनसे शिकायत करही दी—

'भगवन्, मेरे बाणसे कर्णका रथ गजों दूर खिसक जाता है तो तुम कुछ नहीं कहते और कर्ण थोड़ा-सा भी पीछे ढकेल देता है तो तुम साधुवाद देते हो ?"

यह सुनकर कृष्णने वही चिरपरिचित मन्दहास किया और रहस्यको अनावृत करते हुए अर्जुनको ऊपरकी ओर देखनेके लिये कहा—अर्जुनने ऊपर देखा तो कपिध्वजके रूपमें रथ पर अरिमर्दन करनेवाले स्वयं आंजनेय बैठे थे, फिर नीचे देखा तो रथके पहियोंमें स्वयं शेषनाग लिपट रहे थे और कृष्णका विराट्रूप तो अर्जुनने देख ही लिया था। अब अर्जुनको कृष्णके स्मितका और साधुवादका रहस्य समझमें आ गया। कृष्ण तो प्रत्येक कारणका कार्य जानते थे और वे कर्णकी शक्तिसे परिचित थे, इसलिये उन्होंने पवन-पुत्रको और शेषको, दोनोंको सावधान कर दिया था अन्यथा कर्णके बाणोंकी आँधीमें अर्जुनका रथ ही जाने कहाँ उड़ जाता।

युद्धमें जब कर्ण और अर्जुन एक दूसरेके आमने-सामने हुए तो अर्जुन निम्न स्तर पर उतर आये। कदाचित् निम्नस्तरीय व्यक्तिके साथ युद्ध करनेसे उनकी अभिजाततापर कलंक लगता, इसलिये उन्होंने कर्णको अपशब्दोंसे सम्बोधित किया, किन्तु कर्ण तो इस नियतिको जन्मसे ही भोगता आया था,इसलिये उन्होने उस नियति की विडम्बनाको स्वीकार करते हुए अपने पौरुषकी जाति बताना ही उचित समझा—

'सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा कोवा भवाम्यहम् ।
दैवायत्तं कुले जन्म ममायत्तं तु पौरुषम् ॥

अर्थात् अर्जुन ! यथार्थकी प्रतिष्ठा करो। युद्धमें वंशको विजय नहीं मिलती, पराक्रम को मिलती है। जाति और जन्म, भाग्यकी बात हैं, वे व्यक्तित्व नहीं हो सकतीं। व्यक्तित्व अथवा पौरुष तो वह होता है, जिसे व्यक्ति स्वयं निर्माण करता है। अन्ततः अर्जुनको उसी रण दुर्मद कर्णसे, सूतपुत्र कर्णसे जूझना पड़ा। यह सुनिश्चित सत्य है कि यदि कृष्णका पक्ष पाण्डवोंको नहीं मिलता तो कौरववाहिनीमें अनेक ऐसे उद्भट योद्धा थे जिनके सामने सारे पाण्डव मिलकर भी नहीं टिक पाते। स्वयंके कौशल और पुरुषार्थके अतिरिक्त भी कर्णके पास अमोघ शक्ति थी और उसके प्रयोग करनेके पश्चात् अर्जुनका बचाव करने की शक्ति किसीमें नहीं थी, पर उस लीलाधरने कर्णको अवसर ही कहाँ दिया—उस अव्यर्थ शक्तिके प्रयोग करनेका।

यही है उस भाग्य विडम्बित की करुण कथा। उसने जिस भी किसी को समझा अपना समझा, चाहे जिसको भी सर्वस्व दानतक करनेको उद्यत हो जाता, पर उसके प्रतिफलमें उसे मिलती उपेक्षा, तिरस्कार, अपमान। उसका जन्म प्रवंचनाका जन्म था और इसीलिये वह जन्मभर ठगा जाता रहा, फिर लीलाधर ही उसे क्यों नहीं ठगते ? कुन्ती कर्णको वात्सल्य नहीं दे सकी और कर्ण किसीका आश्रय नहीं पा सका। धरतीने झेला और आसमान ने डाला था। जिस व्यक्तिको ऐसे निर्जन और मरीचिकामेंसे अकेले जाना हो, वह किस मनस्तापसे घुटता होगा-यह आज भी रोमांचकारी कल्पना लगती है। सब तरह से योग्य होते हुए भी कोई उसको स्वीकार करने-को तत्पर नहीं। ऐसे एकाकी जीवनने कर्णको अश्म हृदय तो अवश्य बना दिया था परउसके जीवनमें व्याप्त शून्यको वह स्वयं भी नहीं झुठला सका था। जीवन चाहे कितना ही निः स्पृह बन जाय, पर वातावरणकी अपेक्षा तो उसे रहती ही है। कर्ण भी उस मानवीय मनकी कोमलतम अनुभूतिकी उपेक्षा नहीं कर सका।

महाभारतके कर्णयुद्धका अन्तिम दृश्य कितना भयावह और करुणा पूर्ण है ! शीर्षस्थ सेनापतियोंके मरने के पश्चात् कर्ण का अभिषेक होताहै सेनापतिके पदपर और कर्ण युद्ध करतेहैं-युद्धको धर्म मानकर नहीं, अपरिहार्य मानकर। अपरिहार्य इसलिये बन गया था कि भारतको वे एक ही साम्राज्यके रूपमें देखना चाहते थे और इसीलिये कृष्णके शान्ति प्रयासों और पांच गाँवोंकी मांगपर वे सहमत नहीं थे। उनकी दृष्टिमें यह राष्ट्रकी दृष्टिसे आवश्यक ही नहीं, न्याय्य भी था, क्योंकि यदि इस प्रकार सम्राट्के हर पुत्रको साम्राज्यमें से भाग देनेकी परम्परा चल पड़ती तो साम्राज्य टूट-बिखर जाता। नये युगमें जब विदेशियोंका शासन यहां जमने लगा तो उसका कारण ही यह रहा था कि राष्ट्रके स्थानपर छोटे-छोटे राज्य रह गये थे। इस युद्धके परिसमापनको सजीव और आशान्वित करनेवाले इस विलक्षण वीरको आखिर कृष्णकी युक्तियोंसे ही पराजित होना पड़ा।

कर्णके भीषण पराक्रमका अन्त वही हुआ, जो होना था। कुरुक्षेत्रके रणांगणमें वह रातभर कराहता रहा। मृत योद्धाओंके शवोंको पहचाननेके लिये उनके परिजन आते और जिनको जितना-सा भी शवांश मिलता, उसी पर सन्तोष करके वे उसकी अन्त्येष्टि करते, पर कर्णको न कोई पहचानने आया, न कोई पूछने आया। मृत्यु शय्यापर पड़कर भी वह उसी युग विडम्बनाको भूलनेकी कोशिश कर रहा था। इसी दारुण अवसरपर उसे एक असहाय ब्राह्मणका कातर स्वर सुनाई पड़ताहै। उस स्वरमें विवशता और याचनाका भाव इतना तीव्र है कि कर्ण अपनी भूलकर उसके कष्टसे पीड़ित हो जाताहै, पर ऐसी स्थितिमें उसके पास कुछ है भी तो नहीं। दानीको ऐसी असहाय स्थिति बड़ी त्रासदायिनी होतीहै पर ऐसी स्थितिमें भी उसको कोई न कोई उपाय दिखाई दे ही जाता है और कर्ण अपना स्वर्ण का दन्त उखाड़ कर देदेतेहैं।

कितना कष्टकर अन्त था उस स्वर्णपुरुषके जीवन का !

•••○○○•••

भारतीय जीवन-दर्शनकी रूपरेखाका विचारपूर्ण चित्र

भारतीय जीवन दर्शनके आचार्योंने, जीवनका सूक्ष्म अध्ययन करके, उसकी सर्वांगीण उन्नतिके लिए 'जीवनादर्श' निश्चित किए हैं। 'पुरुषार्थ-चतुर्वर्ग' में वही 'जीवनादर्श' समाहित है। उसे छोड़कर चलनेसे ही तो आज हमारे जीवनमें कुरूपता उत्पन्न हो उठी है। इसकी परमौषधि आज के राजनीतिक सिद्धान्त नहीं, वरन् भारतीय आचार्यों द्वारा निर्धारित जीवन सम्बन्धी विचार हैं।

पुरुषार्थ-चतुर्वर्ग

सुश्री हेमलता उपाध्याय बी०ए०, बी०एड, कोविद

किसी भी देशकी संस्कृतिकी उत्तमताके मापदण्ड उसके स्थायी आदर्श एवं लक्ष्य हुआ करते हैं। भारतीय संस्कृतिके भी कुछ स्थायी आदर्श हैं, जिन्हें हम पुरुषार्थ कहते हैं। भारतीयोंने इस भूमिको सदैव कर्मभूमि माना है, जहाँ उन्हें अपने विशिष्ट उद्देश्यों अथवा पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिए सतत् प्रयत्नशील रहना है। ये पुरुषार्थ चार माने गए हैं।

धर्म

हिन्दू विचारकोंने समाजके संगठन एवं उसकी व्यवस्थाके लिए विभिन्न नियमोंकी रचना करते हुए इस बातका सदा ध्यान रखा है कि प्रत्येक व्यक्तिको इन पुरुषार्थोंकी प्राप्ति केलिए समुचित अवसर उपलब्ध होता रहे। हमारे शास्त्रोंमें इन सभी पुरुषार्थोंको विधिवत् व्याख्या की गई है।

धर्मकी एक सुनिश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती। क्योंकि देश एवं कालके अनुसार उसका स्वरूप भिन्न हो जाता है। आज जो धर्म है, कल वही अधर्म हो सकता है तथा कल जो अधर्म था, वही आज धर्म हो सकता है। सामान्य धर्मका अर्थ है सत्कार्य अथवा कर्त्तव्य। अतएव परिस्थितिके अनुसार शास्त्रों द्वारा निर्धारित आदेशोंका पालन ही धर्म है, ऐसे धर्मका पालन इहलोक तथा परलोक दोनोंके लिए ही कल्याणकारी है। इसलिए वैशेषिक दर्शन सिद्धान्तमें धर्मकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि—

यतोभ्युदय निश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।

जिससे भौतिक ऐश्वर्यकी वृद्धि एवं स्वर्गकी प्राप्ति हो, वही धर्म है। देवलके मतानुसार धर्मका तत्त्व यह है, जो व्यवहार हमें अपने प्रति अप्रिय प्रतीत होता है, उसे हम दूसरे के प्रति न करें—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

महर्षि व्यासने भी यही बात महाभारत में कही है—

न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।

धर्मकी रक्षा एवं उसका पालन आवश्यक है। धर्मसे हीन व्यक्ति पशुओंके समान है। "धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।" इसी प्रकार मनुस्मृतिमें कहा गया है कि—माता, पिता, पुत्र आदि कोई भी परलोकमें मनुष्यका साथ नहीं देता, केवल धर्म ही उसका साथ देता है।

अर्थ

यों तो अर्थके अंतर्गत अर्थशास्त्र एवं दण्डनीति (राजनीतिशास्त्र) दोनों ही आते हैं। किन्तु सामान्यतः अर्थसे मनुष्यकी उन सभी क्रियाओंका बोध होता है, जिनके द्वारा वह अपने तथा अपने परिवारके भरण-पोषणके लिए धन संचय करता है।

समाज एवं राष्ट्रके अस्तित्व एवं प्रगतिके लिए धनकी आवश्यकता होती है। अतएव धनार्जन प्रत्येक व्यक्तिके लिए अपेक्षित है। हमारे धर्मशास्त्रकारोंने कुछ ऐसे नियम बना दिए हैं, जिनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने पुरुषार्थकी प्राप्तिका प्रयत्न कर सके। ब्राह्मण अध्यापन द्वारा एवं याज्ञिक कार्योंमें योग देकर, क्षत्रिय युद्धके द्वारा, वैश्य कृषि व्यापार एव पशुपालन द्वारा तथा शूद्र समाज सेवाद्वारा अपनी जीविका उपार्जित कर सकता है।

काम

कामका अर्थ है वासनाकी पूर्ति, इच्छा अथवा इन्द्रिय सुख। किन्तु यह अर्थ संकुचित

है। कामका वास्तविक अर्थ है बाह्य विषयोंके संसर्गसे प्राप्त होनेवाला सुख। श्रवण, त्वचा, आँख, जिह्वा, नासिका आदि ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा तत्सम्बन्धी विषयोंसे संपर्क स्थापित करनेकी इच्छा ही काम है।

"श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानामात्म संयुक्तेन मनसाधिष्ठित।
तानां स्वेषु स्वेषु विषयेस्वानुकूल्यतः प्रवृति कामः ॥"

अपने संकुचति अर्थमें भी काम निन्दनीय नहीं, अपेक्षित है। केवल उसके व्यवहार में संयमकी आवश्यकता है। पितृऋणसे उऋण होनेकेलिए 'उदक दान' एवं अन्य अनुष्ठानों के लिए तथा वंशको चलानेकेलिए संतानोत्पत्तिकी आवश्यकता है। अतः काम भी आवश्यक है। काम वासना रहित व्यक्तितो कर्महीन हो जायगा। इसीलिए कामको संकल्पमूल कहा गया है (मनुस्मृति २-२)। अतः कामभावनाका निर्मूल नहीं, नियंत्रण अपेक्षित है। कामकी पूर्ति धर्म-सम्मत रीतिसे होनी चाहिए। गीतामें एक स्थानपर भगवान् कृष्णने कहा है कि—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

मोक्ष

मोक्ष हमारा अन्तिम एवं चरम लक्ष्य है। सांसारिक आवागमनके बन्धनसे मुक्त हो आत्माका परमात्मामें लीन हो जानेकी अवस्थाका नाम मोक्ष है। उसकी प्राप्तिकेलिए हमारे धर्म-ग्रन्थोंमें निम्न तीन मार्ग बताये हैं—(१) कर्म मार्ग—अर्थात् कर्मोंको करते हुए मोक्षकी प्राप्ति करना (२) ज्ञानमार्ग—ज्ञान प्राप्त करके (३) भक्ति मार्ग—भक्तिके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति करना।

मोक्षकी प्राप्ति सतत प्रयत्न करनेके बाद ही संभव है। फिर भी उसकेलिए हमें प्रयत्न करना ही चाहिए। क्योंकि हमारा सबसे बड़ा पुरुषार्थ वही है। इसमें सभी प्रकार की विद्याओंका श्रेष्ठ उपयोग किया जा सकता है। कहा भी गया है—

सा विद्या या विमुक्तये।

अर्थात् वही विद्या विद्या है, जो हमें मुक्ति या मोक्षकी ओर लेजाती है।

मनुष्यके इन चारों कर्त्तव्योंको ही पुरुषार्थ—चतुर्वर्ग अर्थात् मनुष्यके चार प्रमुख कर्त्तव्य कहा गया है। अन्तिम वर्ग मोक्षकी प्राप्ति बड़ी ही कठिनाई से होती है, परन्तु इसे ही प्राप्त करनेकेलिए निरन्तर प्रयत्न किया जाता है। अतः कहीं-कहीं इन्हीं कर्त्तव्योंका नाम "पुरुषार्थ त्रिवर्ग" भी दिया गया है। चूंकि चौथा वर्ग सामान्य व्यक्तिको प्राप्त नहीं होता, अतः पुरुषार्थके धर्म, अर्थ एवं काम ही तीन प्रमुख कर्तव्य रह जाते हैं।

तुलनात्मक दृष्टिसे इन चारों वर्गोंमें मोक्षका महत्व निश्चितरूपसे अधिक है। भारतीय दर्शनमें इसे सबसे अधिक महत्व दिया गया है। बुद्धका सारा दर्शन "मोक्ष" की प्राप्ति पर ही बल देता है।

दूसरा स्थान धर्मका आता है। आज सभी यह स्वीकार करते हैं कि जब तक हमारे देशमें धर्मका स्थान सर्वोपरि रहा, तब तक सारा समाज नियमित एवं संगठित रहा है। धर्मकी समाप्तिके बाद मानों इतिहासमें एक नया मोड़ आया है और समाज अनेक भागों में बँटकर दिशाहीन सा हो गया है।

महाभारतमें भी अर्थ एवं कामको नियंत्रित स्थान एवं महत्व देने पर 'बल' दिया गया है। मनुके मतानुसार—'परित्यजेर्थकामौ यो स्थातां धर्मवर्जितो।"

यदि धर्म तथा अर्थ या काममें कोई विरोध हो तो धर्मके पक्ष या हितार्थ अर्थ एवं कामको त्यागा जा सकता है।

धर्मके पश्चात् अर्थ जीवनमें सदासे ही सर्वोपरि रहता आया है। अर्थकी महत्ताके विषयमें तो महाभारतमें यहाँ तक कहा गया है कि—"सभी धार्मिक कार्य, सभी सुख एवं स्वर्ग भी अर्थ (धन) से प्राप्य है।" कौटिल्य कहते हैं—

"अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः।"

अन्तिम कर्त्तव्य कामका स्थान गौण अवश्य रहा है परन्तु मानवके विकास एवं संवर्धनकेलिए कदापि भी त्याज्य नहीं। भारतीय दर्शनमें भौतिक सुखोंकी अपेक्षा आध्यात्मिक एवं नैतिक सुखकी ही प्रधानता रही है। इसीलिए कामको क्रोध, लोभ, मोह, भय एवं मत्सरकी श्रेणीमें रखकर उसे मनुष्यका बड़ा शत्रु तक घोषित किया गया है। स्वयं काम-सूत्रके प्रणेता वात्सायनके मतानुसार भी धर्म, अर्थ एवं कामको उनके क्रमके अनुसार ही तुलनात्मक महत्व देना चाहिए—कम या अधिक नहीं। गुणोंके अनुसार हम धर्मको 'सतस्" अर्थ को 'रजस्' एवं कामको 'तमस्' श्रेणीमें रखते ही आये हैं।

किन्तु विद्वानोंका सूक्ष्म निरीक्षण भी यह मानता रहा है कि वस्तुतः निष्कर्षके रूपमें साध्य केवल मोक्ष एवं संयमित रूपसे उपयोग किया गया काम ही है। शेष दो धर्म एवं अर्थ क्रमशः उपरोक्त दो की प्राप्तिके साधन हैं।

सामान्यतः ब्रह्मचर्यमें व्यक्तिको धर्मके लिए, गृहस्थाश्रममें धर्म, अर्थ एवं कामके लिए, वानप्रस्थाश्रम में धर्म एवं मोक्षके लिए तथा सन्यासाश्रममें केवल मोक्षकेलिए प्रयत्नशील रहना

चाहिए। किन्तु स्वयं शास्त्रकारोंके अनुसार यह क्रम अनिवार्य नहीं है। उदाहरणार्थ यदि मनुष्य चाहे तो वह गृहस्थाश्रममें भी इन सभीकी प्राप्तिकेलिए निरन्तर यत्न करके इनकी प्राप्ति कर सकता है।

स्पष्ट है कि भारतीय जीवन दर्शनमें जीवनके आध्यात्मिक एवं भौतिक पक्षोंमेंसे किसीकी भी उपेक्षा रंचमात्र भी नहीं की गई है। भौतिककी अपेक्षा आध्यात्मिकको देश और कालकी परिस्थितिके अनुरूप भलेही महत्व अधिक दिया गया हो।

'तुलसी' भजु कोसलराजहिरे

जग जाचिअ कोउ न, जाचिय जौं,
जियँ जाचिअ जानकीजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ,
जो जारति जोर जहानहि रे॥
गति देखु विचारि बिभीषन की,
अरु आनु हिएँ हनुमानहि रे।
तुलसी ! भजु दारिद–दोष–दवानल,
संकट कोटि कृपानहि रे॥
सुत, दारु, अगारु, सखा, परिवारु,
बिलोकु महा कुसुमाजहि रे।
सबकी, ममता तजिकै, समता सजि,
संत सभाँ न बिराजहि रे॥
नर देह कहा, करि देखु विचारु,
बिगारु गँवार न काजहि रे।
जनि डोलहि लोलुप कूकरु ज्यों,
तुलसी भजु कोसलराजहि रे॥
सो जननी, सो पिता, सोइ भाइ,
सो भामिनि, सो सुत, सो हितु मेरो !
सोइ सगो, सो सखा, सोइ सेवकु,
सोगुरु, सोसुरु, साहेबु, चेरो॥
सो 'तुलसी' प्रिय प्रान समान,
कहाँ लौ बनाइ कहौं बहुतेरो।
जो तजि देह को गेह को नेहु,
सनेह सों राम को होइ सवेरो॥

गोस्वामी तुलसीदास

मन का स्वभाव ही है कुछ न कुछ 'सोचना', कुछ न कुछ करनेकी ओर प्रवृत्त होना। मनको जब 'सोचने' के लिए 'सत्' नहीं रहता, तो फिर वह अपने स्वभावानुसार 'असत्' के सम्बन्धमें सोचने लगता है और फिर नाना प्रकारकी बुराइयोंमें आग्रस्त हो जाता है। जो लोग मनकी इस गतिको समझकर सोचनेके लिए उसके समक्ष केवल 'सत्' रखते हैं, वे बुराइयोंमें फँसकर कभी जीवनकी राह पर नहीं भटकते।

एकसाधना-एकमार्ग

श्रीकृष्णमुनि प्रभाकर

धर्मोपदेश करते हुए एक दिन गुरुने शिष्योंको यह कथा सुनायी—

एक वार कोई चंचल व चपल व्यक्ति नौकरीकी इच्छासे किसी धनिक के पास गया। धनिकको भी नौकरकी ही तलाश थी, इसलिये उसने झट नौकरको रखना स्वीकार लिया। तब नौकर विनय-पूर्वक बोला—'मालिक, मेरी एक शर्त है। उसे आप मानेंगे, तभी मैं आपकी सेवामें रह सकता हूँ, अन्यथा नहीं।'

धनिकको बड़ा आश्चर्य हुआ कि नौकरीकी इच्छावाला यह व्यक्ति कैसा विचित्र है, जो अपने मालिकसे ही अपनी बात मनवाना चाहता है! फिर भी धनिकको उसकी शर्त सुननेकी उत्कण्ठा हुयी। उसने नौकरको अपनी बात स्पष्टतः कहनेकी आज्ञा दे दी।

धनिकके सामने उस व्यक्तिने अपना एक बड़ाही विचित्र प्रस्ताव रखा। बोला—

'मुझे सतत कार्यरत रखना पड़ेगा। एक क्षण भी मैं विना कामके नहीं बैठूंगा। यदि आपने मुझे काम बतानेमें तनिक भी आलस्य किया अथवा आनाकानी की, तो मैं अपने स्वभावके अनुसार आपकी हानि करूँगा।'

धनिकको यह सुनकर और भी विस्मय हुआ। इच्छित और भला व्यक्ति मिल जानेपर उसे क्या आपत्ति हो सकती थी! काम अधिक है, यह सोचकर धनिकने उसका प्रस्ताव स्वीकार लिया और उसे अपने पास नौकर रख लिया।

पर, कुछ ही दिनोंमें धनिकने अनुभव किया कि नौकरके विषयमें उसका अनुमान ठीक नहीं था। नौकर इतनी फुर्ती और कुशलतासे सारे कार्य पूर्ण कर देता, जैसे उसे कोई भूत सिद्ध हो! अब तो मालिक बड़ा चकराया। यदि कभी कार्य समाप्त हो जाने पर उसे कोई दूसरा काम नहीं बताता तो वह मालिकका नुकसान करनेके लिये उतारू हो जाता। इसलिये विवश होकर उसे व्यर्थके और निकम्मे कामोंमें वह लगाये रखता। लेकिन, यह भी कबतक चलता! वह बड़े सोचमें पड़ गया। अपने अन्य सारे कार्य भूलकर वह सारा दिन उसीको काम बतानेमें लगा रहता। आखिर काम भी वह कितने बताता!

सोचते-सोचते उसने एक युक्ति ढूंढ़ निकाली और अगले क्षण जब नौकर उसके पास आया, तो अपने तहखानेसे निकलवाकर उसने उससे ठोस लोहेका एक ऐसा ऊंचा, चिकना और भुजदण्ड-सरीखा मोटा स्तम्भ बाहर गड़वाया, जिसके ठीक ऊपरी सिरेमें हीरे-जैसी कोई वस्तु दीप्तित हो रही थी। फिर बादमें उससे कहा—'जबतक मैं तुम्हें कोई दूसरा काम नहीं बतलाता, तबतक तुम इसके ऊपरकी चमकती मणिको पकड़ने और प्राप्त करनेका यत्न करो।'

लपककर नौकरने स्तम्भको जकड़ लिया। उसने ऊपर चढ़नेकी चेष्टा की, तो अगले ही क्षण खम्भेकी चिकनाहटके कारण वह धड़ामसे नीचे आ गिरा।

निश्चिन्त होकर मालिक जा चुका था। नौकर दृढ़तासे पुनः पुनः यत्न करता, गिरता-पड़ता। हाथ-पैर उसके बुरी तरह छिल गये और थोड़ेसे समयमें ही वह थककर चूर-चूर हो गया।

बादमें जब मालिकने उसे कोई दूसरा कार्य बतलाया, तो उस लोह-स्तम्भके भयसे नौकरने बड़ी ही धीमी गतिसे उसे सम्पन्न किया।

अब मालिक भी बड़ा खुश था कि उसने नौकरकी अनिष्टकारी बीमारीका हल सहज ही खोज निकाला। वह कभी भी उसे अब तंग न करेगा और न ही उसका कोई नुकसान ही करने को उद्यत होगा।

उपसंहारमें गुरुने शिष्योंके आगे यह दार्शनिक तत्व रखा—

वह चंचल और चपल नौकर और कोई नहीं, मनका ही प्रतीकात्मक रूप है, जो अपनी स्वभावगत चांचल्यताके कारण विना कुछ कार्य किये रह ही नहीं सकता। यदि उसे किसी कार्यमें संलग्न न रखा गया, तो वह किसी भी क्षण कोई भी अनिष्ट करनेपर उतारू हो सकता है; क्योंकि वह एक पल भी खाली नहीं बैठ सकता। इस प्रकार वह नाना प्रकारके मनमाने पापपूर्ण कर्मों-द्वारा आत्माका अहित करता रहता है। उसे अपने शौर्य-वलके दृढ़त्वपर घमण्डपूर्ण विश्वास है।

मालिक मार्ग-दर्शक गुरुका प्रतीक है, जो चंचल मनको निग्रहका मार्ग बताकर उसे सही दिशाकी ओर संकेत करता है। जिस प्रकार मदारी वन्दरको अपने अधीन करके उसे स्वेच्छानुकूल नाच नचवाता है, उसी प्रकार गुरु भी सेवक-रूप मनको अपना वशवर्ती बनाकर उसे नाम-स्मरणके लोह-दण्डपर चढ़नेकी प्रेरणा प्रदान करता है।

गुरुके इस कार्यके पीछे बड़ा भारी रहस्य छिपा हुआ है। वह सेवक-रूप मनको अन्य निरर्थक कार्यों से हटाकर स्मरण-रूप लोह-दण्डपर एकाग्र करना चाहता है। चंचल और चपल मनवाले सेवककी वृत्ति यद्यपि उसमें स्थिर नहीं हो पाती, क्योंकि उसमें शारीरिक बाधाओंकी अमङ्गलता उसे दृष्टिगोचर होती है, फिर भी गुरुके आदेशानुसार उसे यह सब कुछ करना पड़ता है। गुरु उसे उससे मुक्त नहीं रखना चाहता, क्योंकि उसे भय है कि रिक्त होने पर वह स्वभावतः कोई भी उत्पात खड़ा कर सकता है।

गुरुने अन्तमें कथाको इस प्रकार रूपक-बद्ध किया—

नौकर साधक (मन) है, मालिक गुरु और लोह-स्तम्भ साधनाके उस कठिन मार्गका प्रतीक है, जिस पर सहज चला नहीं जा सकता। चंचल मनवाले इसमें बार-बार गिरते हैं, उनके बार-बार विचलित होनेकी सम्भावना रहती है और, केवल दृढ़-निश्चयी ही इस साधना-मार्गमें सफल हो सकते हैं।

बोल नहीं, आचरण

जो मनुष्य अपने श्रोताओंको केवल मौखिकज्ञान से ही ईश्वर प्राप्तिका मार्ग दिखलाता है, वह तो उनको दुर्दशा में ही डालता है और जो मनुष्य अपने उत्तम आचरण द्वारा ईश्वरी मार्ग दिखलाता है, वही सुन्दर स्थितिको प्राप्त कराता है।

जीवनमें योगकी उपयोगिताका चित्र

हमारी आजकी शिक्षा पूर्ण रूपसे 'वहिर्मुखी' है। हम क्या हैं, हमारे अन्तरमें क्या है, हमारे अन्तर में जो है, उसका प्रकाश किस प्रकार उदय हो सकता है—हमारी आजकी शिक्षा इन उपयोगी प्रश्नोंपर पर्दा डालती जा रही है। इसीका यह परिणाम है कि आज चारों ओर वाह्य मनोवेगोंका ही विस्फोट होता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। इसका केवल एक ही उपाय है, वाह्य मनोवेगोंको बाँधकर भीतरकी ओर मोड़ना और अन्तरके स्वरूपको समझनेकी चेष्टा करना। यह केवल 'योग' से ही सम्भव हो सकता है।

शिक्षामें योगकी उपयोगिता

श्रीदेवकृष्ण व्यास

आज देशमें सर्वत्र असंयम, असंतोष और अनुशासनहीनताका बोलबाला है। तोड़-फोड़, मार-काट और आगजनीकी हिंसक घटनाओं द्वारा निर्दोष व्यक्तियों और सार्वजनिक सम्पत्तिको क्षति पहुँचानेके समाचार आए दिन पढ़नेको मिलते हैं। तनाव और चिन्ताओंके कारण हमारा व्यक्तिगत जीवन असंतुलित और भारस्वरूप हो गया है। इस असंतुलन का प्रभाव सामाजिक, सार्वजनिक और राजनीतिक-सभी क्षेत्रोंमें स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। जिस व्यक्तिके हृदयमें असन्तोषकी ज्वाला सुलग रही हो, वह केवल अपने ही परिवारको ही दु:खी नहीं करता, अपने काम-धन्धेके स्थानका वातावरण भी विषाक्त कर देता है।

व्यक्तिगत असन्तोष प्रायः सामाजिक और सार्वजनिक असन्तोषका रूप ले लेता है और जब कभी उसका विस्फोट हो जाता है, तो हम चौंक पड़ते हैं।

मनुष्यका असंयमी चित्तही सब प्रकारके दुःखोंका मूलकारण है। असंयमी व्यक्ति पथभ्रष्ट होकर न्याय और नीतिके मार्गको छोड़ देता है और बेईमानी, भ्रष्टाचार और अवसरवादिताको अपना लेता है। चित्तभ्रष्टताके कारण ही सब घिनौने और निन्दनीय कृत्य होते हैं। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि चित्तकी चंचलताका निवारण कर उसे संयमी बनाया जाए और यह सम्भव है केवल योगाभ्याससे। यह धारणा गलत है कि योग गृहत्यागी साधु-संतों और संन्यासियोंके लिए है। दरअसल, यह विद्या उन सभीके लिए है, जो अपना जीवन सफल बनाना चाहते हैं। मनुष्य अमृतका पुत्र है; अमृत ही उसका स्वरूप है। अमृतस्वरूप स्थिति प्राप्त करनेमें ही उसके जीवनकी सार्थकता है। इस अमृतलोकमें ही उसे स्थायी सुख और शान्ति प्राप्त होती है,बाह्य भौतिक साधनोंमें नहीं। योगके माध्यमसे ही उसे यह स्थिति प्राप्त हो सकती है। यही कारण है कि सभी धर्म-ग्रन्थोंमें योगकी महिमा बताई गई है।

'योग' शब्दका अर्थ है जोड़ना। जोड़ना किससे किसको? जोड़ना चित्तको चैतन्यसे, जीवको शिवसे। जड़-चैतन्यकी खोज करते हुए चित्तको आत्मबोध होता है। इसी आत्मबोधके होनेपर वृत्तिनिरोध करना होता है। इसी वृत्तिनिरोधको महर्षि पतंजलि 'योग' कहते हैं। चित्त वृत्ति निरोधका तात्पर्य है मनको एकाग्र करना। प्रारम्भमें किसी वस्तु अथवा विषयपर मनको केन्द्रित करना अवश्य कठिन होता है,किन्तु धीरे-धीरे अभ्याससे जब यह संभव हो जाता है, तब उससे बड़ा आनन्द प्राप्त होता है। जिस विद्यार्थीका मन अस्थिर होता है,वह कोई बात सीख ही नहीं सकता। प्रतिवर्ष स्कूल,कालेज और विश्व-विद्यालयोंमें जो असंख्यविद्यार्थी अनुत्तीर्ण होते हैं,उसका प्रमुखकारण यही है कि उनमें मनको अध्ययनकी ओर एकाग्र करनेकी शक्ति नहीं है। योगासनसे शरीर स्वस्थ होता है। 'स्वस्थ शरीरमें ही स्वस्थ मन रहता है,'यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। इसीलिए लौकिक और पारलौकिक-दोनों उद्देश्योंकी प्राप्तिकेलिए स्वस्थ शरीरका होना आवश्यक बतलाया गया है। मनके स्वस्थ होनेपर चित्तमें विद्याको धारण करनेकी सामर्थ्य बढ़ जाती है। इस योगविद्याके द्वाराही प्राचीनकालमें हमारे देशवासी मेधावी, ओजस्वी, पराक्रमी, तत्वज्ञानी और त्यागी बन सके थे।

योगविद्या प्राप्त विद्यार्थी जीवनके किसी भी क्षेत्रमें कभी असफल नहीं होगा। निराशा और आलस्यमें वह आजकलके युवकोंकी तरह अपना अमूल्य समय व्यर्थ नहीं गँवाएगा। शक्ति और स्फूर्तिसे परिपूर्ण रहनेके कारण वह सदैव क्रियाशील रहेगा। शरीर और मनकी शुद्धि होनेके कारण उसके आचरण और व्यवहार भी दोषमुक्त होंगे।

अनुशासनहीनता, उद्दण्डता और चरित्रहीनता नामको नहीं रहेगी। संसारमें सदाचारसे रहकर जो अपने जीवनको सुखी और सफल बनानेके लिए प्रयत्नशील है, वही योगी है।

आहार-विहारमें असंयम होनेके कारण आजकल लोग अनेक प्रकारके रोगोंसे ग्रस्त हैं। मनुष्यकेलिए स्वास्थ्यही सबसे बड़ी सम्पत्ति है। पासमें कितना ही पैसा हो, नौकर-चाकर हों और राज्य अथवा समाजमें सम्मान हो, पर यदि शरीर नीरोग नहीं तो सब व्यर्थ है। सच्चा स्वास्थ्य न तो डण्ड-बैठक लगानेसे आता है और न अधिक मात्रामें दूध-घीका सेवन करने से। स्कूल-कालेजोंके खेलकूद और व्यायाम भी विद्यार्थीके व्यक्तित्वके पूर्णविकासमें सहायक नहीं होते। योगासनोंसे शरीरके सभी अंगों और ग्रन्थियोंका व्यायाम अत्यन्त व्यवस्थित ढंगसे होता है। सब भीतरी दोष दूर हो जाते हैं और चेहरेपर आभा और कान्ति झलकने लगती है। पाश्चात्य देशोंमें अनेक युवक-युवतियोंने अपने स्वास्थ्य और सौन्दर्यको बनाये रखनेके लिए योगासनोंको अपना लिया है। यह निर्विवाद सत्य है कि आधुनिक शृङ्गार-प्रसाधनोंसे जो सौन्दर्य प्राप्त नहीं हो सकता, वह योगासनोसे सहज सुलभ हो जाता है। अतः यह आवश्यक है कि स्कूल-कालेजोंमें शारीरिक व्यायाम के नामपर जो कार्यक्रम होते हैं, उनमें योगासनोंको सम्मिलित किया जाए। ऊँची कक्षाओंके विद्यार्थियोंको ध्यानयोगका भी प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए, ताकि वे अपने मनको एकाग्र और स्थिर करना सीख सकें। संक्षेपमें, यौगिक जीवनका अर्थ शरीरका युक्त व्यायाम, सादा-सात्विक आहार और सद्विद्याका अध्ययन है। नियमित और सात्विक-आहार-विहारसे चित्त प्रसन्न, बुद्धि स्थिर और तन सुडौल रहता है।

यौगिकजीवनसे प्रसन्नचित्त और सदाचारी बने मनुष्यको लोभ, ईर्ष्या, स्वार्थ आदि विकार कभी नहीं सताएंगे। अपने अन्तरमें शान्ति और सन्तोष रहनेके कारण वह अपने परिवार, समाज और राष्ट्रमें भी शांतिमय वातावरण बनाएगा। योगाभ्यासी व्यक्ति कभी घेराव, पथराव, बन्द, हड़तालों और हिंसक उपद्रवोंका सहारा नहीं लेंगे। कठिनसे कठिन परिस्थितियोंमें भी वे संयम, धैर्य और विवेकसे काम लेंगे। यौगिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति जब विधान सभाओं और संसदमें चुनकर आयेंगे, तब आजकी तरह दल-बदल और दंगलके दृश्य दिखाई नहीं देंगे।

योगाभ्यास केवल स्वास्थ्य सुधारका ही साधन नहीं है, जीवनकी प्रक्रिया है। ऐसी प्रक्रिया जो विचार-शक्तिका विकास करती है। विचार-शक्ति प्राणीमात्रके जीवनके लिए प्रकाश-स्तम्भ है। किसीभी प्रश्नके सत्यासत्यका निर्णय करना, हित-अहित, गुण-दोष, लाभ-हानि, मित्र-शत्रु, सज्जन-दुर्जन, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य और योग्य-अयोग्य-आदिका विचार विचारशक्तिके द्वारा ही होता है। यदि मनुष्य इस विचारशक्तिके विकासकेलिए उचित प्रयास करे तो वह अपनी इच्छानुसार सांसारिक उन्नति कर सकता है और परब्रह्मकी प्राप्ति भी कर सकता है।

योगविद्याके कारण ही आज भारतको सारे संसारमें आदर और सम्मान प्राप्त है। भौतिक साधनों और ऐश्वर्यका बाहुल्य होनेपर भी आज पाश्चात्य जगतके लोगोंके जीवनमें सुख और शांति नहीं है। वे इस आन्तरिक आनन्दकी अनुभूतिकेलिए भारतके योगदर्शन और योगियोंसे बहुत कुछ सीखना चाहते हैं। पिछले कुछ वर्षोंमें योगके प्रति विदेशियोंकी अभिरुचि और जिज्ञासा बढ़ी है। योग सीखनेकी दृष्टिसे जब विदेशी लोग भारत आते हैं और यहाँ गरीबी, बेकारी, भुखमरी, भ्रष्टाचार, अनैतिकता और अव्यवस्था देखते हैं तो उन्हें इस बातकी हैरानी होती है कि योग और अध्यात्मका केन्द्र होनेपर भी भारतकी यह दुर्दशा क्यों? यौगिक जीवनसे विमुख होनेकेकारण ही आज देश सभी क्षेत्रों में पतनोन्मुख हो रहा है।

यौगिक ज्ञान केवल आत्म-दर्शनको दृष्टिसे उपयोगी ही नहीं है, भौतिक और व्यावहारिक दृष्टिसे भी महत्त्वपूर्ण है। यौगिक अभ्यास जब कार्यक्षमता और बुद्धिका विकास होता है, तो उसका लाभ ज्ञान-विज्ञान, कला साहित्य, कृषि-उद्योग आदि सभी क्षेत्रोंमें मिलना स्वाभाविक है। विदेश यात्रासे लौटे एक भारतीय योगीने पिछले दिनों इन पंक्तियोंके लेखकको बताया कि पश्चिमी जर्मनीमें योगका प्रचार इसलिए बढ़ रहा है कि वहांके लोगोंको यह विश्वास हो गया है कि इससे कार्यक्षमता बढ़ती है। सभी क्षेत्रोंमें उत्पादन कम होनेके कारण आज जब भारत अभाव और असन्तोषसे गुजर रहा है, तब देश के कर्णधारोंका ध्यान योग विद्याकी उपयोगिताकी ओर क्यों नहीं जा रहा है? इसकी उपेक्षासे ही निराशा और निष्क्रियताका अन्धकार बढ़ रहा है। अब समय आ गया है कि सरकार इस उपयोगी विद्याके अधिकाधिक प्रचारकेलिए योजनाबद्ध कदम उठाए और योग-बलका सहारा लेकर देशका सर्वतोमुखी विकास करनेकी दिशामें अग्रसर हो।

कल्याणमार्ग—निष्काम कर्मयोग

यह संसार कर्मभूमि है। स्वयं भगवान् महाकर्मी हैं। वे इस ब्रह्माण्ड-गृहके महागृहस्थ हैं। स्थावर-जंगमात्मक विश्वव्यापी इस महापरिवारमें जिसको जिस वस्तुकी आवश्यकता है, उसको वह वस्तु ठीक तौरसे प्रदान करनेका प्रभु सदा प्रबन्ध करते रहते हैं। इस संसारमें कर्मके बिना कोई ठहर नहीं सकता। आत्म-रक्षा और जगत्-रक्षाकेलिए सभी कर्मचक्रमें घूम रहे हैं। निष्काम कर्मयोगके सिवा हमारे उद्धारका कोई मार्ग नहीं है। जातीय उत्थान-पतन कभी कर्मनिरपेक्ष नहीं हो सकता। भारतवर्ष जबसे निष्काम कर्मयोगके उच्च आदर्शको भूल गया, तभीसे इस देशकी अधोगति प्रारम्भ हुई। कर्मको अन्तर्मुख कर लेनेपर जैसे उनके द्वारा बाहरी मङ्गल-साधन होता है, उसी प्रकार भीतर का मंगल भी साधित होता है। कर्मकुण्ठ, अकाल संन्यासी, और कर्मासक्त घोर विषयी किसीकेलिए भी यह धारणाका विषय नहीं रह गया।

महात्मा अश्विनीकुमार

शुभकामनाओं सहित—

डालमिया सिमेंट (भारत) लिमिटेड
डालमियापुरम् मद्रास (राज्य)

"राकफोर्ट" मार्का डालमिया पोर्टलैण्ड एवं पोजोलाना सिमेंट तथा डालमिया रिफ्रैक्टरीज के निर्माता।

उड़िशा सिमेंट लिमिटेड
राजगंगपुर (उड़िशा राज्य)

"कोणार्क" मार्का डालमिया पोर्टलैण्ड एवं पोजोलाना सिमेंट, हर प्रकार और आकारकी रिफ्रैक्टरीज, आर० सी० सी० स्पन पाइप्स तथा प्रीस्ट्रैस्ट कंक्रीट सामान के निर्माता।

मुख्य कार्यालय :
**४, सिंधिया हाउस,
नई दिल्ली**

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके नव-निर्माणकी झाँकी
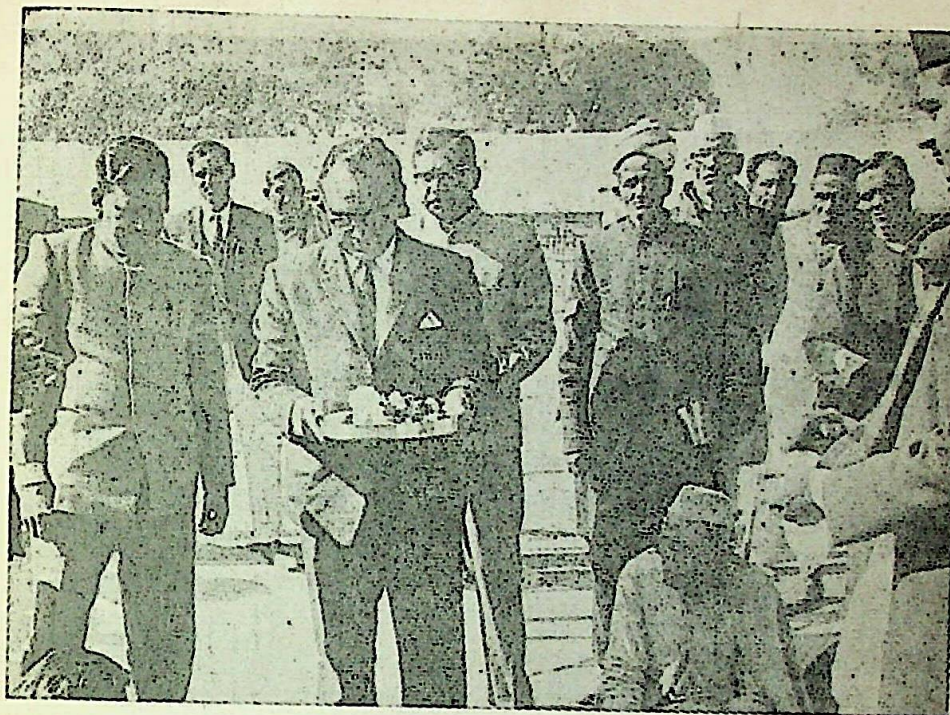
मथुराके जिलाधीश हाथमें पूजन-सामग्री लेकर नगरपालिका द्वारा निर्मित किये जा रहे श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके प्रशस्त मार्गका शुभारम्भ करने जा रहे हैं।
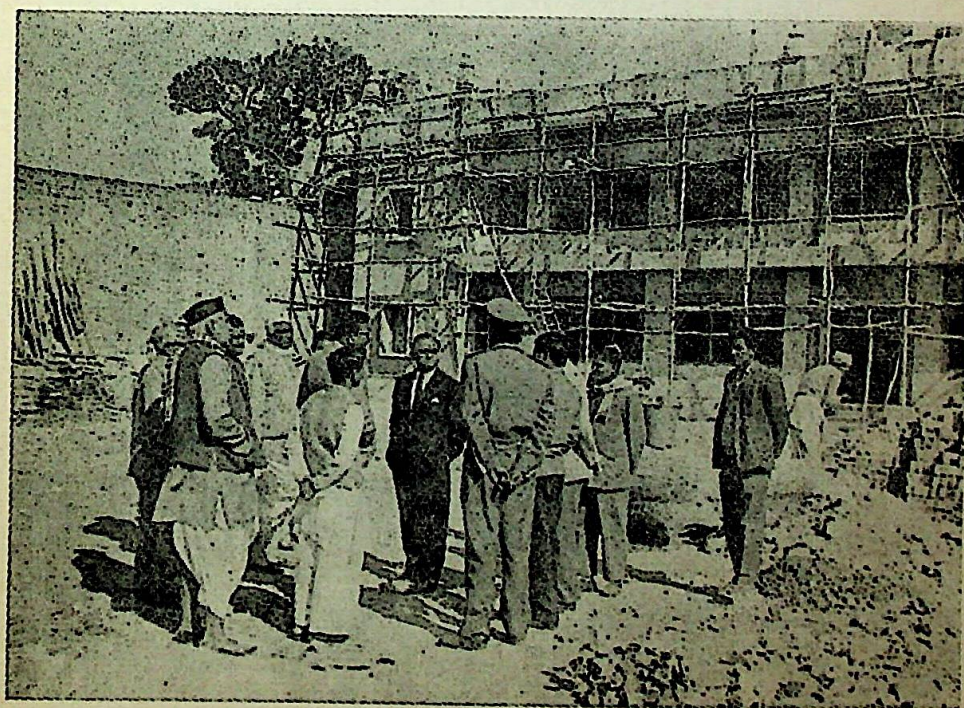
मथुराके जिलाधीश तथा पुलिस-अधीक्षक श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके डालमिया-उद्योग-समूहकी सहायतासे निर्मित हो रहे अन्तर्राष्ट्रीय-अतिथि-भवनका अवलोकन कर रहे हैं।

पंजीयत सं० एल-८२७

* कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् *

'श्रीकृष्ण-सन्देश'

के

ग्राहक

बनिए और बनाइए;

क्योंकि—

* यह श्रीकृष्ण-प्रेमी जनताका अपना पत्र है,
* श्रीकृष्णकी दिव्य लीला-गुण-कर्म एवं वाणीसे अभिप्रेरित है,
* निष्पक्ष एवं प्रामाणिक पाठ्य-सामग्रीसे भरपूर है,
* नैतिक बल, पवित्राचरण एवं स्वधर्म-निष्ठाको बढ़ानेवाला है।

यदि आप—

* लेखक हैं तो प्रेरणादायक लेख भेजकर
* कवि हैं, तो निष्ठा-वर्द्धक कवितायें लिखकर
* अधिकारी या सेवक हैं, तो अपना सहयोग देकर
* उद्योगपति या व्यापारी हैं, तो अपने संस्थानोंके विज्ञापन देकर

श्रीकृष्ण-सन्देशकी सफलता आपके सहयोगपर निर्भर है।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघके लिये देवधर शर्मा द्वारा मथुरा प्रिंटिंग प्रेस, मथुरामें मुद्रित तथा प्रकाशित। आवरण मुद्रक : राधाप्रेस, गांधीनगर, दिल्ली-३१